THE BOOK WAS DRENCHED TEXT PROBLEM WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL LIBRARY
OU_176781
UNIVERSAL LIBRARY

१५३

संक्षिप्त हिंदी-नवरत्न

संपादक

सर्वप्रथम देव-पुरस्कार-विजेता

श्रीदुलारेलाल

(सुधा-संपादक)

समालोचना-संबंधी उत्तमोत्तम ग्रंथ

दुलारे-दोहावली (आठवाँ संस्करण) १), १॥)
संभाषण ।॥)
हिंदी-साहित्य का इतिहास २), २॥)
हिंदी-नवरत्न (छठा संस्करण) ८)
मिश्रबंधु-विनोद (दो भाग) ५॥)
बिहारी-रत्नाकर १०)
देव और बिहारी ३॥)
देव-सुधा २।)
नैषध-चरित-चर्चा ।॥), १॥)
प्राचीन पंडित और कवि १), १॥)
भवभूति ।॥=), १॥=)
मतिराम-ग्रंथावली ४।)
प्रसादजी के दो नाटक १), १॥)
कालिदास और भवभूति १॥)
नवयुग-काव्य-विमर्श ३॥),४॥)
कवि-कुल-कंठाभरण ।॥), १॥)
बिहारी-सुधा ॥=), १=)
निबंध-निचय २।)
साहित्य-सुमन ।॥=), १॥=)
सौंदरानंद-महाकाव्य ॥), १।)
निरंकुशता-निदर्शन १), १॥)
प्राचीन साहित्य ॥-), ।॥)
विश्व-साहित्य २।), ३)
साहित्य-संदर्भ २।), ३)
बिहारी-दर्शन २॥), ३।)
हिंदी १), १॥)
प्रबंध-पद्म १।), २)
रति-रानी २॥), ३।)
मान-मयंक १।), २)
साहित्य-पारिजात ३), ३॥)
पृथ्वीराज-रासो के दो समय ।॥=), १॥=)

हिंदी की सब प्रकार की पुस्तकें मिलने का एकमात्र पता—
गंगा-ग्रंथागार, ३६, लाटूश रोड, लखनऊ

गंगा-पुस्तकमाला का १५३वाँ पुष्प

संक्षिप्त हिंदी-नवरत्न

अर्थात्

हिंदी के नव सर्वोत्कृष्ट कवि

लेखक

मिश्रबंधु

पंडित गणेशविहारी मिश्र (स्वर्गवासी)

रावराजा डॉक्टर श्यामविहारी मिश्र डी० लिट्०
साहित्यवाचस्पति (स्वर्गवासी)

रायबहादुर पंडित शुकदेवविहारी मिश्र
साहित्यवाचस्पति

"ते सुकृती, रससिद्ध कबि बंदनीय जग माहिं,
जिनके सुजस-सरीर कहँ जरा-मरन-भय नाहिं।"

मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार

३६. लाटूश रोड

लखनऊ

पंचमावृत्ति

सजिल्द ३)] सं० २००५ वि० [सादी २)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान—

१. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआटोली, पटना
२. दिल्ली-ग्रंथागार, चर्खेवालाँ, दिल्ली
३. प्रयाग-ग्रंथागार, ४०, क्रास्थवेट रोड, प्रयाग

नोट—हमारी सब पुस्तकें इनके अलावा हिंदुस्थान-भर के सब प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें।

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

समर्पण

सूचीपत्र

विषय				पृष्ठ
भूमिका	...	...	...	१
गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी	...	...	...	२६
दो महत्ताएँ	...	...	...	३६
ग्रंथ और शिष्य-परंपरा	...	...	...	४०
रामचरित-मानस	...	....	...	४४
निर्गुण-सगुण ब्रह्म	...	...	...	५१
ज्ञान-भक्ति	...	...	...	६३
सिद्धांत और ढंग	...	...	...	६४
उदाहरण	...	...	...	७७
महात्मा सूरदास	...	...	...	८७
साहित्यिक गुण-दोष	...	...	...	९५
श्रीकृष्ण और अवतार	...	...	...	९८
महात्मा कबीरदास	...	...	...	१०८
धार्मिक विचार	...	...	...	१११
पांडित्य, दृढ़ता आदि	...	...	...	१३१
महाकवि देवदत्त (देव)	...	...	...	१४५
साहित्यिक महत्ता	....	...	...	१५५
दूसरों की सम्मति	...	...	...	१५७
उदाहरण	...	...	...	१५६
महाकवि बिहारीलाल	...	...	...	१६१
महाकवि भूषण	...	...	...	१७०

महाकवि मतिराम	१८३
महाकवि केशवदास	१८६
महाकवि चंद बरदाई	१९७
भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र	२००

भूमिका

अँगरेज़ी या वर्तमान विचारों से कवियों की जाँच में दो मुख्य प्रश्न उठते हैं—कवि को कुछ कहना था या नहीं, और उसने उसे कैसा कहा है? संक्षिप्त रीति से कहने में पहला प्रश्न यों भी कहा जा सकता है कि उसका क्या संदेश है? इन प्रश्नों का प्रयोग हिंदी-नवरत्न के कवियों पर करने से वे कैसे उतरते हैं, यह यहाँ संक्षेप में लिखा जाता है। गोस्वामी तुलसीदास का संदेश शुद्ध भक्ति का है, और उन्होंने उसे बहुत ही अच्छा कहा है। उस काल मुसलमानी धार्मिक प्रकोप कई शताब्दियों से चला आता था, अतः भक्ति के द्वारा हमारा समाज संगठित किया गया। महाकवि सूर का वही संदेश है, और उन्होंने भी उसे बहुत अच्छा कहा है, किंतु भक्ति को शृंगार से अधिक मिलाने के कारण आपका संदेश हर जगह साधारण पाठक को याद नहीं रहता। महात्मा कबीरदास ने भी सखी-भाव की भक्ति की है, किंतु उन्होंने हर स्थान पर जीवात्मा-परमात्मा का संबंध बहुत दृढ़ रक्खा और शृंगार का वर्णन कम किया है। इसी से उनके सखी-संप्रदाय-वाले वर्णनों में साहित्यानंद अपर्याप्त है। इधर सूरदास ने जीवात्मा-परमात्मा के भाव को गौण रक्खा है, और शृंगार को प्रधान। इससे उनकी रचना में साहित्यानंद तो अच्छा है, किंतु संदेश गौण पड़ गया। हमारी समझ में सखी-संप्रदाय की भक्ति का वर्णन संदेश और साहित्य, दोनो को कठिनता से दृढ़ रख सकेगा। यदि संदेश सबल रहेगा, तो साहित्य गौण होकर फीका पड़ जायगा, और यदि साहित्य सबल रक्खा जाय, तो संदेश डूब जायगा। हम यह नहीं कहते

कि संदेश सबल रखने पर सखी-भाव से प्रेरित कोई सरस काव्य बन ही नहीं सकता, किंतु सूर और कबीर की रचनाओं में कुछ ऐसा ही प्रतिफलित हुआ है। तुलसी ने दास-भाव की भक्ति को कथा से मिलाकर संदेश और साहित्य, दोनो को सुदृढ़ रक्खा है। इसीलिये आप मध्यकालीन सर्वोत्कृष्ट धार्मिक उपदेशक हुए, और हमारे समाज को आपने जैसा सुव्यवस्थित रूप दिया, वैसा ही वह आज भी है।

देव और बिहारी शृंगारी कवि थे। इनका कोई मुख्य संदेश नहीं है, किंतु इन्होंने कथन बड़े ही अनमोल किए हैं। इन्होंने कहा बहुत ही अच्छा, किंतु इनके संदेश बिलकुल गौण हैं। देव मुख्यतया साहित्याचार्य थे। इन्होंने जो कुछ रचना की है, वह प्रधानतया काव्यांगों के उदाहरणार्थ हुई है। इनका कोई धार्मिक संदेश नहीं है, किंतु आचार्यत्व के होने से वह भाषा की उन्नति का संदेश माना जा सकता है। बिहारी का यह भी संदेश नहीं है, क्योंकि वह आचार्य न थे। गौण रूप से इन दोनो कवि-रत्नों का भी भक्ति का संदेश कहा जा सकता है, और उसका कुछ आभास मिलता भी है। हमारा स्वभाव सदा से आम को आम और इमली को इमली कहने का रहा है। किसी स्थान पर खींचा-तानी से कोई भाव आरोपित करना हम मिथ्यावाद समझते हैं। जो २४ घंटे में १ घंटा भी भक्ति न करे, वह भक्त कैसे कहा जा सकता है? भक्ति-विहीन शृंगारी वर्णनों में केवल राधा-कृष्ण का नाम जोड़ देने से हम उसे भक्ति-पूर्ण कविता नहीं कह सकते। भक्ति के लिये भाव में भी तत्संबंधी विचारों का आना आवश्यक है, जैसा कि तुलसी और कबीर की रचनाओं में प्रत्यक्ष देख पड़ता है। अतएव देव और बिहारी की रचनाओं में हम भक्ति का संदेश नहीं पाते। यदि कुछ हो भी, तो, गौणातिगौण रूप में होने से, वह नहीं के बराबर है। साहित्योन्नति का संदेश देव और बिहारी, दोनो की रचनाओं में माना जा सकता है।

भूषण ने जातीयता का संदेश दिया और उसे कहा भी अच्छा है। आपकी जातीयता में भारतीयता का भाव कम आता है, हिंदूपन का विशेष। फिर भी यह कहना पड़ेगा कि उस समय हिंदूपन का ही संदेश एक प्रकार से भारतीयता का संदेश था, क्योंकि मुसलमान अधिकतर विदेशी थे। केशवदास के कथन अच्छे हैं, और उनकी रचना में भक्ति का संदेश माना गया है, किंतु हमारी समझ में वह पुष्ट नहीं होता। रामचंद्रिका में भक्ति गौण रूप से है। उसमें कथा-प्रसंग तथा वर्णनोत्कर्ष की मुख्यता है, न कि भक्ति की। विज्ञान-गीता में परमोच्च विचार कम हैं। उसमें चलतू अथवा काम-काजू धर्म कहा गया है। रसिकप्रिया शृंगार-प्रधान ग्रंथ है, और कविप्रिया आचार्यत्व-पूर्ण। इनके शेष ग्रंथ साधारण हैं। कुल मिलाकर केशवदास का आचार्यत्व एवं साहित्योन्नति का संदेश कहा जा सकता है, और कोई नहीं। कबीरदास का संदेश ऐक्य का है। उनके मतानुसार ईश्वर एक, धर्म एक, मनुष्य की प्रतिष्ठा एक, सत्य एक और सभी संसार एक है। सभी बातों में उनकी अद्वैत दृष्टि है। हिंदू और मुसलमानी धर्म को वह एक मानते, सब मनुष्यों की प्रतिष्ठा को समान समझते और सभी प्रकार से दाक्षिण्य-पूर्ण उपदेश देते हैं। उनका संदेश परमोच्च है, किंतु कथन उत्कृष्ट होने पर भी वैसे नहीं हैं। विचारों की अपेक्षा उनकी भाषा कुछ लची हुई है। मतिराम का संदेश साहित्योन्नति है, और उनकी भाषा बहुत ललित है। चंदबरदाई ने कथा अच्छी कही है, और उनके वर्णन भी ठीक हैं। भारतेंदु का संदेश जातीयता है, और वह परम सफलता-पूर्वक व्यक्त हुआ है।

उत्कृष्ट कवियों के कथन में हिंदी का इतिहास भी कह देना विषय पर अच्छा प्रकाश डालेगा। हिंदी की जननी संस्कृत है या प्राकृत, इस विषय में मतभेद शेष नहीं है; अब पंडितों के बहुमत का झुकाव

इस ओर समझ पड़ता है कि प्राकृत ही बदलते-बदलते अपभ्रंश होती हुई हिंदी हो गई है। इस परिवर्तन का समय स्थिर करना कठिन है, क्योंकि ऐसा अदल-बदल किसी एक समय में नहीं होता, वरन् धीरे-धीरे शताब्दियों तक होता रहता है। यह कहना बहुत कठिन है कि किस स्थान से व्रज-भाषा समाप्त और पूर्वी बोली प्रारंभ होती है, अथवा पूर्वी बोली समाप्त होती और वंग-भाषा चलती है। इन समाप्तियों और प्रचारों का कोई एक स्थान नहीं है, वरन् धीरे-धीरे ग्राम-प्रतिग्राम एक भाषा मंद पड़ती जाती है, और दूसरी का अंश कुछ-कुछ बढ़ता जाता है, यहाँ तक कि बहुत दूर चलकर एक पूर्ण रूप से मिट जाती है, और दूसरी का पूरा बल हो जाता है। समयानुसार भाषाओं के परिवर्तन और उत्थान-पतन की ठीक यही दशा है। दूसरी शताब्दी संवत् पूर्व के वैयाकरण महर्षि पतंजलि के कथनों से प्रकट है कि उस काल प्राकृत के स्थान पर अपभ्रंश का जन्म हो रहा था। समय के साथ धीरे-धीरे इसका प्रचार बढ़ता गया। कालिदास के विक्रमोर्वशी-ग्रंथ में विक्षिप्त पुरूरवा के कथनों में इसका आभास देखा गया है। महाराजा हर्षवर्धन के समकालीन विक्रमीय छठी शताब्दी के प्रसिद्ध गद्य-लेखक बाणभट्ट की रचना में प्राकृत के साथ देश में भाषा नाम्नी बोली का भी चलन लिखा हुआ है। भाषा-शब्द से हिंदी का प्रचार माना जा सकता है। स्थूल रूप से हिंदी का उत्पत्ति-काल सातवीं शताब्दी में कहा जा सकता है। उस काल से संवत् १२०० तक अब ३७ कवियों के नाम, समय, ग्रंथ, उदाहरण आदि मिल चुके हैं। इनके विवरण मिश्रबंधु-विनोद में हैं। इनमें मुख्य पुंड (सं० ७७०), सरहपा (८००), शबरपा (८२५), लूहिपाद (८४५), भूसुक (८७०), खुमान रासोकार (८७०), देवसेन (९३३), बुद्धिसेन (दसवीं शताब्दी), राजानंद (१०७५) आदि हैं। संवत् १२१२

में नरपतिनाल्ह ने बीसलदेव रासो-नामक ग्रंथ बनाया, जो प्रकाशित हो चुका है। प्राचीन ग्रंथ होने से यह बहुत पूज्य दृष्टि से देखा जाता है। स्वामी रामानुजाचार्य (१०७३ से ११९३ तक), निंबार्क स्वामी (मृत्यु १२१९), स्वामी माधवाचार्य (१२५४-१३३४) और विष्णु स्वामी इस काल के प्रसिद्ध धर्मोपदेशक हुए हैं। चंद कवि ने सवत् १२२५ से १२४९ तक कविता की। इनकी बहुत रचना मिलती है। चंद के समकालीन जगनिक वंदीजन ने आल्हा बनाया; पर लिखित न होने के कारण जगनिक की भाषा का भी अब आल्हा में पता नहीं है।

चंदबरदाई के अनंतर उसका पुत्र जल्हन हुआ, जिसने रासो के शेष भाग को समाप्त किया, और चंद के मरने के पीछे ग्रंथ को सुरक्षित रक्खा। १२८६ में महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध हिंदी-कवि ज्ञानेश्वर का समय है। सं० १३२९ से १३५० तक कवयित्री रमाबाई और मुक्ताबाई का समय है। संवत् १३५७ के लगभग शार्ङ्गधर नाम के एक कवि ने रणथंभोर के हम्मीरदेव के यहाँ शार्ङ्गधर-पद्धति, हम्मीर-काव्य और हम्मीर-रासो नाम के तीन ग्रंथ बनाए। यह पहला कवि है, जिसकी भाषा वर्तमान रचनाओं से मिलती और श्रेष्ठ भी है। यथा—

"सिंह-गमन, सुपुरुष-बचन, कद्‌लि फरै इक बार;
तिरियां-तेल, हमीर-हठ चढ़ै न दूजी बार।"

उर्दू और फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि अमीर ख़ुसरो का देहांत संवत् १३८२ में हुआ। इनकी कविता उर्दू से मिलती हुई हिंदी में होती थी। वह मनोहर भी है। प्रसिद्ध ग्रंथ ख़ालिक़बारी इन्हीं का बनाया हुआ है। प्रसिद्ध महात्मा गोरखनाथ का कविता-काल संवत् १४०७ के लगभग है। इन्होंने संस्कृत के कितने ही पवित्र ग्रंथ बनाए, और भाषा के तो बहुत-से ग्रंथ इन महात्मा ने भक्ति-पक्ष में रचे। इनकी कविता-शैली पुराने ढर्रे से बहुत मिलती है। इनकी रचना में छंदो-

भंग भी देख पड़ते हैं। जान पड़ता है, यह बात लेखकों की असावधानी से आ गई; नहीं तो संस्कृत का इतना बड़ा पंडित भद्दे छंदोभंग कैसे कर सकता था? गोरखनाथ ही ऐसे कवि हैं, जिनका एक गद्य-ग्रंथ भी मौजूद है। वह व्रजभाषा में है। इसकी रचना बड़ी ज़ोरदार और मनोहर है। इनके प्रायः ५० वर्ष पूर्व एक मैथिल गद्य-लेखक थे। उनकी रचना शुद्ध मैथिल भाषा में संस्कृत-शब्द-गर्भित है, जो बहुत श्लाघ्य बन पड़ी है। कवि का नाम कवि शेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ठाकुर था। समय था प्रायः १३५४ और ग्रंथ वर्ण या वर्णन-रत्नाकर। चित्तौर के प्रसिद्ध महाराणा कुंभकर्ण का राज्य-काल १४१९ से १४६६ तक है। इन्होंने हिंदी-कविता रची, और कवियों का मान भी बहुत किया, पर इनकी रचना अथवा इनके सम्मानित कवियों के नाम अब अप्राप्य हैं। इनकी गीता की टीका मिलती है।

संवत् १४५३ में नारायणदेव ने हरिचंद्रपुराण कथा नाम का ग्रंथ बनाया। प्रसिद्ध महात्मा महर्षि रामानंद का समय संवत् १४५७ के निकट है। इन्होंने कुछ कविता भी की। इनके शिष्य भवानंद और सेन नाई भी इसी समय हुए। ये लोग भी कुछ-कुछ कविता करते थे। इसी समय बिहार में विद्यापति ठाकुर-नामक एक बड़े ही सत्कवि हुए। इन्होंने विशेष रूप से संस्कृत की रचना की; पर इनकी हिंदी-रचना बहुत ही लोक-प्रिय और ज़ोरदार है। बिहार के कवि जयदेव और उमापति ने भी इसी समय काव्य-रचनाएँ कीं।

बाबा नानक का जन्म संवत् १५२६ में हुआ, और १५९६ में यह महात्मा पंचत्व को प्राप्त हुए। यह महाराज सिक्ख-मत के संस्थापक थे। इन्होंने ग्रंथ-साहब का बड़ा अंश तथा अष्टांगयोग-नामक एक और भी ग्रंथ बनाया। महात्मा चरणदास ने १५३७ में ज्ञानस्वरोदय आदि कई ग्रंथ रचे; पर यह संवत् संदिग्ध है। सेन

कवि ने संवत् १५६० में रचना की। इनकी कविता वर्तमान हिंदी से मिलती है। अतः हमारी हिंदी चंद कवि के समय से उन्नति करते-करते सूरदास के प्रथम ही, प्रायः ३०० वर्षों में, वर्तमान हिंदी से मिल गई। सेन कवि के साथ-ही-साथ कुतबन शेख़ ने मृगावती नाम की एक मनोहर प्रेम-कहानी लिखी। इसकी रचना-शैली जायसी की-सी है, यद्यपि उसकी समता नहीं कर सकती। इधर संवत् १५३५ में महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य का जन्म हो चुका था। उन्होंने उत्तर-भारत में अलौकिक भक्ति का स्रोत बहाया। उधर बंगाल में महात्मा चैतन्य ने भक्तितरंगिणी की अखंड धारा प्रवाहित की। इस प्रकार समस्त उत्तर-भारत में उस समय भक्ति का समुद्र-सा लहराने लगा। कविता के लिये तल्लीनता एक बहुत ही आवश्यक गुण है। यह तल्लीनता हमारे कवियों को भक्ति से प्राप्त हुई। अब संभव था कि यह कविता की ओर झुक पड़ती, या तपस्या की ओर झुककर ज्ञान-विज्ञान को जाग्रत् करती, अथवा कोरी तपस्या ही की ओर लगती। तल्लीनता एक भारी बल है। यह जिस ओर लग जाती है, उसी ओर कुछ करके दिखला देती है। हिंदी के सौभाग्य-वश महाप्रभु वल्लभाचार्य ने यह तल्लीनता कविता की ओर लगा दी। आपने स्वयं भी कविता की। इनके पुत्र महाप्रभु बिट्ठलस्वामी ने भी ऐसा ही किया। फिर क्या था, तल्लीनता ने भक्ति के सहारे पूर्ण विकास पाकर हिंदी-साहित्य का भांडार भर दिया। चैतन्य महाप्रभु की वैष्णव प्रवृत्ति से भी हिंदी-काव्य को लाभ पहुँचा। स्वामी रामानंद और उनके संप्रदाय ने सीताराम के सहारे पवित्र भक्ति का प्रचार किया। दादूदयाल, नामदेव, बाबा नानक आदि के सहारे एक निर्गुण-पंथी धारा भी हिंदी में है। इस काल सं० १५६० पर्यंत हिंदी ने चार समय देखे, अर्थात् चंद से पूर्व की हिंदी, रासो-काल की हिंदी, उत्तर प्रारंभिक हिंदी और पूर्व माध्यमिक हिंदी। चंद से पूर्व के अब तक ३७ कवि मिले

हैं। इस काल के कवि ऐतिहासिक दृष्टि से उत्कृष्ट हैं, किंतु उनका साहित्य श्रेष्ठ नहीं है। देश पर उनका प्रभाव वाममत की वृद्धि में पड़ा। इसी समय मुसलमानी शक्ति पहले प्रायः शांति-पूर्वक सिंध में स्थापित हुई और फिर उद्दंडता के साथ उत्तर-पश्चिमी पंजाब में। धर्म पर बल-प्रयोग होने से हिंदुओं को समाज-संरक्षण बहुत आवश्यक समझ पड़ा, जिससे हमारी धर्म की तार्किक प्रगति भक्ति की ओर भी होने लगी। चंद के प्रथमवाले कवियों ने इस विषय पर उलटा प्रभाव डाला, तथा दाक्षिणात्य वैष्णवों ने बहुत कुछ कर दिखलाया। यह समय सं० ७०० से १२०० तक चलता है। रासो-काल सं० १२०० से १३४३ तक समझा गया है। इसमें अब तक प्रायः १७ कवि मिले हैं, जिनमें नरपतिनाल्ह, चंदबरदाई, जल्हन आदि प्रधान थे। चंद-पूर्व-काल तथा रासो-काल मिलकर पूर्व प्रारंभिक समय माने जाते हैं। उत्तर प्रारंभिक हिंदी (१३४४-१४४४) में जजल, अमीर खुसरो, महात्मा गोरखनाथ, ज्योतिरीश्वर ठाकुर आदि मुख्य थे। इस काल हिंदी में गद्य-काव्य का प्रारंभ हुआ, और पंथ-स्थापन द्वारा समाज-संगठन की प्रणाली चली। प्रयोजन मुसलमानी धार्मिक आक्रमण से हिंदू-समाज के रक्षण का था। पूर्व माध्यमिक हिंदी (१४४५ से १५६० तक) में स्वामी रामानंद, नामदेव, कबीर, नानक, चैतन्य महाप्रभु, वल्लभाचार्य आदि ने भक्तिवाद के सहारे समाज को दृढ़ किया। मुसलमानी संतों ने भी सूफ़ी साहित्य द्वारा प्रेम-मार्ग से हिंदुओं में मुसलमानी मत से सहानुभूति स्थापित करनी चाही। यह समय आगे आनेवाले का पथ-प्रदर्शक था। इसमें नवीन प्रणालियाँ अच्छी स्थापित हुईं, तथा सामाजिक सुधार उत्कृष्टता-पूर्वक चलाया गया। अब प्रौढ़ माध्यमिक (१५६१-१६८०) समय आता है। संवत् १५३५ में महात्मा सूरदास का जन्म हुआ। उन्होंने प्रायः १५६० से रचना का आरंभ किया। उधर वल्लभ और बिट्ठलजी के अन्य शिष्यों ने भी पदों की रचना में पूरा बल लगाया।

इस प्रकार सैकड़ों कवियों ने इस समय उत्कृष्ट पद बनाए। तब बिट्ठल ने चार पिता के और चार अपने शिष्य सत्कवि समझकर छाँट लिए, और उस चुनी हुई कवि-समिति का नाम 'अष्टछाप' रक्खा। अष्टछाप में सूरदास, कृष्णदास, परमानंददास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीत-स्वामी, नंददास और गोविंददास के नाम थे। इस अष्टछाप में सूर-दासजी तो अनुपम कवि थे ही, नंददास भी अच्छे थे। नंददासजी गोस्वामी तुलसीदास के चचेरे या गुरु-भाई थे। नंददास के अतिरिक्त, अष्टछाप में, कृष्णदास और परमानददास भी सुकवि थे। इसी समय महात्मा हरिदास, नरसैयाँ आदि ने भी मनोहर कविता की। सौर काल में चित्तौर की महारानी मीराबाई ने कृष्ण-संबंधी परमोत्कृष्ट कविता की, और कई ग्रंथ रचे। इस स्त्री-रत्न के चरित्र से सब छोटे-बड़े अभिज्ञ हैं। कवि-शिरोमणि कृपाराम ने, १५९८ में, हिततरंगिणी-नामक एक अलंकारों का बड़ा ही विशद दोहा-ग्रंथ रचा। इस ग्रंथ के दोहे मनोहर हैं। संवत् १५७५ से १६०० तक मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत-नामक एक सुंदर सूफ़ी ग्रंथ, पूर्वी भाषा में, बनाया। इस प्रकार की प्रेम-कथाएँ, जिनका अवतारों आदि से कोई सरोकार नहीं, हिंदी में पहलेपहल बहुत करके मुसल-मान-कवियों ही ने लिखीं। इनमें, इस काल में, क़ुतबन एवं जायसी का नाम आता है। आगे चलकर नूर मुहम्मद ने भी इंद्रावती-नामक एक ऐसा ही ग्रंथ रचा। हिंदू-कवियों ने ऐसे जितने ग्रंथ उस समय रचे, उनमें धार्मिक विचार से बहुधा देवतों, अवतारों, पौराणिक कथाओं आदि का सूत्र नहीं छोड़ा। क़ुतबन, जायसी, कृपाराम आदि को छोड़कर १५६० से प्रायः १६३० तक पदों के निर्माण का काल रहा, और कृष्णानंद ही में हमारे कविगण मग्न रहे। इसे हम सौर काल कह सकते हैं। इसमें अच्छी कविता बहुत बनी।

संवत् १६३० के पीछे १६८० तक तुलसीदास का कविता-काल

समझना चाहिए। इस समय में पद बनानेवालों का प्राधान्य नहीं रहा, और राम-चरित्र-मानस के साथ-ही-साथ विविध विषयों के वर्णन की परिपाटी पड़ने लगी। कृष्ण की सच्ची भक्ति भी सौर काल के पीछे इतनी अधिकता से नहीं रही। अभक्त लोगों ने तुलसी-काल से ही कुछ-कुछ सिर उठाया, और भक्ति-विचार को छोड़कर शृंगार-सौंदर्य के विचार से कृष्णचंद्र को नायक बनाकर नायिकाओं की चेष्टाओं में ध्यान लगाना प्रारंभ किया। महा कवि केशवदास ने इसी समय में रसिकप्रिया-ग्रंथ बनाया, जिसमें उन्होंने सब रसों के उदाहरण शृंगार-रस में ही दिए।

तुलसी-काल में एक तुलसीदास का होना ही कवियों के एक दल के बराबर है। इस एक ही कवि ने ऐसी कविता की, जैसी चार भिन्न-भिन्न प्रकार के परमोत्कृष्ट कवि करते। कृपाराम के अतिरिक्त महाकवि केशवदास ने ही रीति-ग्रंथों की प्रणाली डाली। सौर काल में निपट निरंजन और नरोत्तमदास भी अच्छे कवि हुए, और स्वयं सूरदास के पीछे गोस्वामी हितहरिवंश की कविता बहुत ही टकसाली होती थी। यह महाशय संस्कृत के कवि और एक 'मत' के संस्थापक थे। भाषा में इन्होंने केवल ८० पद बनाए; पर उन्हीं में क़लम तोड़ दी है।

तुलसी-काल में केशवदास के ज्येष्ठ भ्राता बलभद्र मिश्र भी श्रेष्ठ कवि हो गए हैं। इनका केवल एक नख-शिख चलता है; पर उसी से यह आचार्य गिने जाते हैं। इनकी रचना बड़ी गंभीर है। रहीम, नाभादास, रसखानि और मुबारक भी इस काल में अच्छे कवि हो गए हैं। अकबर बादशाह भी इसी काल में हुए हैं। यह स्वयं कविता करते थे। इनके यहाँ कवियों का मान भी अच्छा होता था। रहीम, बीरबल, गंग, टोडरमल, मानसिंह आदि सब अकबर ही के यहाँ कविता करते थे। इनमें से कई श्लाघ्य कवि थे। आईन-अकबरी में लिखा है कि संवत् १६५४ के लगभग सूर-

दास अकबर के यहाँ गवैयों में थे। यह सूरदास प्रसिद्ध सूरदास नहीं समझ पड़ते, क्योंकि एक तो सूरदास की जीवनियों में उनका अकबर के यहाँ रहना नहीं वर्णित है, दूसरे, सूरदास का देहांत १६४२ में हो गया था। तुलसी-काल में ही महात्मा बिट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ ने ८४ और २५२ वैष्णवों की वार्ता नाम के दो प्रसिद्ध गद्य-ग्रंथ लिखाए। इनमें पीछे से महात्मा हरिराय ने बहुत कुछ जोड़ा। बहुत करके हरिराय ने ही इन ग्रन्थों के तीन संस्करण लिखे। वह भी उसी समय के थे। महात्मा गोरखनाथ के पीछे हिंदी में ये ही दो उत्कृष्ट गद्य-ग्रंथ मिलते हैं। जैन-कवि बनारसीदास तुलसी-काल ही में हुए। घासीराम भी इसी समय के एक प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। महात्मा तुलसीदास के राम-चरित्र-मानस का प्रभाव भाषा-साहित्य पर बहुत अधिक पड़ा, और दोहे-चौपाइयों में कथा-प्रासंगिक काव्य करने की प्रणाली-सी पड़ गई। इसी समय से रामायण लिखने का हमारे यहाँ ऐसा उत्साह बढ़ा कि बहुत-से कवियों ने राम-यश गाया। केशवदास का भी प्रभाव कवि-समाज पर बहुत पड़ा।

गोस्वामीजी के पीछे पूर्वालंकृत-काल (१६८१-१७९०) चलता है। इसमें, थोड़े ही दिनों में, पाँच बहुत बड़े कवि हुए, अर्थात् सेनापति, बिहारी, भूषण, मतिराम और लाल। सेनापति ने अनूठापन सबसे अच्छा दिखलाया। इनका ग्रंथ संवत् १७०६ में बना। बिहारी ने १७१९ में सतसई समाप्त की। भूषण ने १७३० में शिवराज-भूषण बनाया। यही समय मतिराम की भी कविता का है। लाल कवि ने छत्रप्रकाश-नामक, छत्रसाल की जीवनी का, एक बहुत ही मनोहर ग्रंथ, केवल दोहे-चौपाइयों में, बनाया। इनकी रचना बड़ी ज़ोरदार और प्रशंसनीय है। इस ग्रंथ में छत्रसाल का, प्रायः संवत् १७६५ तक का, हाल बड़ी ही कुशलता-पूर्वक वर्णित है। कवि होने के अतिरिक्त लाल सैनिक भी थे। इसी समय एक युद्ध में उनका देहांत हुआ।

देवजी का जन्म उसी संवत् (१७३०) में हुआ, जिसमें शिवराज-भूषण समाप्त हुआ। ईश्वर ने मानो ऐसे प्रशंसनीय ग्रंथ के पुरस्कार में ही ऐसा बढ़िया कवि संसार को दिया। देव का कविता-काल प्रायः १८२४ संवत् तक है। इन भूषण और देववाले काल में अःअंच कवियों की संख्या बहुत बढ़ी, और वीर-काव्य का भी अच्छा निर्माण हुआ। जैसे सूरदास के समय में भक्ति का समुद्र उमड़ पड़ा था, वैसे ही इस काल में शौर्य की ध्वजा ऊँची हुई। चिर-विमर्दित हिंदू-राज्य का उत्थान और चिर-विजयी मुसलमान-बल का पतन इसी काल में हुआ। ऐसे अमूल्य समय में वीर-काव्य का बाहुल्य स्वाभाविक ही था, और हुआ भी; पर इसी के साथ शृंगार-काव्य ने अधिक बल प्राप्त किया, और इसका भी सिक्का जम गया। शृंगार की ऐसी लोकप्रियता बढ़ी कि सेनापति-जैसे ऋषि-कवि ने भी ऐसा काव्य करने में कोई दोष न माना।

इस समय जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह ने दोहों में भाषा-भूषण नाम का एक परमोत्कृष्ट अलंकार-ग्रंथ बनाया, जो अब भी जिज्ञासुओं के काम आता है। महाराजा छत्रसाल ने इसी समय कवियों का परम प्रशंसनीय सम्मान किया। इनके यहाँ जाने-आनेवालों में भूषण, नेवाज, हरिकेश और लाल परम प्रशंसित कवि थे। नेवाज ने संयोग-शृंगार बहुत ही अच्छा कहा। शेष तीन महाकवियों ने बड़ी ही सबल रचना की। इनके अतिरिक्त सैकड़ों कवि छत्रसाल के यहाँ जाते और मान पाते थे। इस समय भाषा की अन्य उन्नतियों के साथ आचार्यों की भी अच्छी वृद्धि हुई। देव, भूषण, मतिराम, चिंतामणि, श्रीपति, कवींद्र, सूरति मिश्र, रसलीन, कुलपति आदि सब आचार्य थे। इन सबकी रचना परम मनोहर होती थी। गोकुलनाथ के पीछे सूरति मिश्र ने भी गद्य में प्रशंसनीय रचना की। अतः इस समय तक ज्योतिरीश्वर, गोरखनाथ, गोकुलनाथ और सूरति मिश्र ही गद्य के मुख्य लेखक थे। इनके अतिरिक्त देव आदि ने भी एक-आध स्थान पर गद्य का

उदाहरण देते हुए वचनिकाएँ लिखीं, पर उनसे वे लोग गद्य-लेखक नहीं कहे जा सकते। कालिदास, घनश्याम शुक्ल, आलम, शेख़, गंजन आदि प्रसिद्ध और परमोत्कृष्ट कवि इसी समय में हो गए हैं।

कविता की उन्नति इस समय अवश्य बहुत अधिक हुई, पर उसमें भक्ति-हीन श्रृंगार की मात्रा भी बहुत बढ़ गई। सूर एवं तुलसी के समय में अनुप्रास का उतना अधिक मान न था, पर इस काल में पद-मैत्री का हिंदी-कविता पर प्रगाढ़ अधिकार हो गया। इस प्रकार भाषा श्रुति-मधुर और सुंदर हो गई। पर बहुत-से कवियों ने शब्दाडंबर के फेर में पड़कर भाव का समुचित ध्यान रखना छोड़ दिया। इसी समय सेनापति ने षट्ऋतु पर ग्रंथ रचकर इस विषय पर पृथक् ग्रंथ बनाने की नींव डाली। देव कवि ने उसे और भी बढ़ाकर अष्टयाम-नामक ग्रंथ रचा, जिसमें एक दिन के भी प्रति पहर और प्रति घड़ी का वर्णन किया। कई अन्य वैष्णव-कवियों ने भी अष्टयाम रचे। रस-भेद, भाव-भेद आदि पर ग्रंथ बनने की प्रथा ने इस समय बहुत ज़ोर पकड़ा, और रीति-ग्रंथों का प्रचार बढ़ा। व्रजभाषा ने इस काल में चरम उन्नति कर ली, क्योंकि इसके पीछे उसके ऐसे कवि नहीं हुए। सौर काल के प्रथम हिंदी का प्रचार तो बहुत दिनों से था, पर न तो चंद आदि तीन कवियों को छोड़कर उसमें कोई बहुत अच्छा कवि हुआ, और न गणना में कवियों की संख्या ही बहुत हुई। बहुत दिन बीत जाने के कारण कविताएँ लुप्त हो जाने से भी गणना में कमी हुई है, पर वह कमी है अवश्य। प्रायः शिथिल कवियों की ही कविता लुप्त होती भी है। सौर काल तथा तुलसी के समय में कवियों की संख्या एवं उत्तमता, दोनो में एकाएक बहुत बड़ी और संतोष-जनक वृद्धि हुई। इस काल में जो ग्रंथ बने, उनमें से बहुत से हिंदी क्या, पृथ्वी की किसी भी भाषा का श्रृंगार कहे जा सकते हैं। अकबरशाह (सं० १६१२-१६६२) ने हिंदुओं से प्रेम-पूर्ण व्यवहार करके हिंदू-मुसलमानों की प्रायः साढ़े

तीन शताब्दियों की सामाजिक शत्रुता हटानी चाही। देश में सत्ययुग-सा स्थापित हो गया। कवियों ने अकबर को हिंदूपति के पवित्र नाम तक से पुकारा। हिंदी-काव्य की उन्नति के साथ हिंदू-समाज भी सुखी हुआ। भारत में दक्षिण को छोड़ एकाधिपत्य स्थापित हुआ। १७२५ पर्यंत मुग़ल-प्रभाव-विस्तार होता रहा। इसके पीछे औरंगज़ेब ने धार्मिक बखेड़ा फिर से उठाया, और दक्षिणी भारत का झगड़ा बढ़कर उत्तर में भी फैल गया। हम १७२५ तक मुग़ल-प्रभाव-विस्तार पाते हैं, १८५७ तक हिंदू-साम्राज्य-स्थापन और अनंतर ब्रिटिश शासन-काल। सूर-तुलसी-काल-पर्यंत अकबरी प्रभाव से मुसलमानों के अत्याचार और तज्जन्य हिंदू-मुसलिम-वैमनस्य प्रायः पूर्णतया स्थगित रहे।

इस समय के पीछे सेनापति, भूषण और देव के समय में हिंदुओं की सभी बातों में अच्छी उन्नति हुई, यहाँ तक कि महाराष्ट्रों ने चिर-संस्थापित मुसलमान-राज्य को विध्वस्त कर एक विशाल साम्राज्य बना ही लिया, यद्यपि काल की कुटिल चाल से वह भी चिरस्थायी न रह सका। इसी समय बुंदेलखंड, बघेलखंड, राजपूताना, पंजाब आदि प्रायः सभी स्थानों में जातीयता जग उठी। इस जागृति की झलक कविता में भी भली भाँति देख पड़ती है। इन सब उन्नतियों के साथ-साथ कविता ने भी अभूत-पूर्व उन्नति की। यह उन्नति कवियों की संख्या और उत्तमता, दोनो बातों में बहुत ही संतोष-प्रद हुई। इस समय भारत में वीर पुरुष थे, और वे स्वभावतः वीर-कविता का अच्छा मान भी करते थे। इस कारण इस समय भाषा में वीर-कविता का अच्छा समावेश हुआ। पर पीछे से कायरता की वृद्धि के कारण वे वीर-ग्रंथ जहाँ-के-तहाँ पड़े रहे, और उनका अच्छा प्रचार न हो सका। इसका फल यह हुआ कि उनमें से बहुत-से लुप्त हो गए, और अब उनका पता तक नहीं लगता। हिंदी-प्रेमी अब धीरे-धीरे खोज-खोजकर वे ग्रंथ प्रकाशित करते जाते हैं। यही कारण है कि विविध विषयों के

ग्रंथ होते हुए भी हिंदी में शृंगार-रस की प्रधानता समझ पड़ती है। यह प्रधानता अब लुप्तप्राय हो गई है।

यद्यपि देव कवि के पीछे प्रायः पचास वर्ष तक हिंदुओं के बल और जातीयता की पूर्ण उन्नति रही पर न-जाने किस कारण दुर्भाग्य-वश हिंदी ने उस महत्त्व का एक भी कवि न उत्पन्न किया, जैसे सूर, तुलसी और देव के समय में अनेक हो गए थे। कवियों की संख्या में देव के पीछे और भी विशेष उन्नति हुई, सत्कवि भी बहुत हुए, पर बहुत ही अच्छे कवियों का एक प्रकार से अभाव ही रहा। देव के पीछे हिंदी में भिखारीदास तथा पद्माकर का समय आता है। देवजी के कुछ ही पीछे दास, रघुनाथ और दूलह, ये तीन बड़े प्रधान आचार्य और सुकवि हुए। दूलह अलंकार के आचार्य थे और दास दशांग-कविता के। रघुनाथ ने अलंकार और नायिका-भेद, दोनो बहुत स्पष्ट कहे। सूदन कवि ने इसी समय सुजानचरित्र-नामक एक बड़ा मनोहर युद्ध-ग्रंथ रचा, और गोकुलनाथ, गोपीनाथ तथा मणिदेव ने भाषा-भारत रचकर हिंदी का अपार उपकार किया। इन तीनो कवियों ने अन्य ग्रंथ भी अच्छे बनाए, विशेषकर गोकुलनाथ ने। इनका समय संवत् १८८५ के लगभग है। रघुनाथ और दास का समय संवत् १८०० के इधर-उधर है। दूलह का समय भी १८०२ के लगभग पड़ता है। सूदन का कविता-काल १८११ के इर्द-गिर्द पड़ेगा। पद्माकर कवि ने १८८३ से ग्रंथ-रचना की। इन्होंने सात-आठ ग्रंथों में केवल जगद्विनोद ही शृंगार का ग्रंथ-बनाया, पर काल की गति से इनका यही ग्रंथ अधिक लोक-प्रिय हुआ। अमेठी के राजा गुरुदत्तसिंह ने भी इसी समय दोहों में उत्कृष्ट कविता की। सोमनाथ, ठाकुर, शंभुनाथ मिश्र, बैरीसाल, मनीराम मिश्र, बोधा, सीतल, रामचंद्र पंडित, मनियार, थान, बेनी, लल्लूलाल, सदल मिश्र, दत्त, बेनीप्रबीन, रामसहाय, प्रतापसाहि आदि बहुत-से निपुण

कवि इस समय में हुए। इसकी अवधि संवत् १७९१ से १८८९ तक है।

उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त सोमनाथ, बैरीसाल, मनीराम मिश्र और प्रतापसाहि भी इस समय अच्छे आचार्य हो गए हैं। ठाकुर और बोधा इस काल के प्रेमी कवि हैं। सीतल ने इसी समय पहलेपहल खड़ी बोली में बहुत प्रशंसनीय कविता की। यह महाकवि उच्च खड़ी बोली के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। इसी समय में लल्लूलाल और सदल मिश्र ने वर्तमान साधु-भाषा के गद्य की नींव डाली। इनका समय संवत् १८६० था। इनके प्रथम गोरखनाथ, हरिराय, सूरति मिश्र आदि ने भी गद्य में ग्रंथ रचे थे, पर उनमें से बहुतों का गद्य साधारणी व्रजभाषा में ही लिखा गया था। इस समय के उपर्युक्त दोनो कवियों ने खड़ी बोली-मिश्रित गद्य की नींव डाली, जिसका प्रयोग आजकल गद्य में सर्वत्र किया जाता है। इनके प्रथम भी कुछ लोगों ने खड़ी बोली में गद्य-रचना की थी, पर उसका प्रचार नहीं हुआ। गणना में इस समय अन्य सभी समयों की अपेक्षा प्रशंसनीय कवि अधिक हुए, पर न-जाने क्यों इस काल का कोई भी कवि नव-रत्न के कवियों की योग्यता को न पहुँचा।

लल्लूलाल तथा सदल मिश्र के पीछे राजा लक्ष्मणसिंह तथा राजा शिवप्रसाद सितारे-हिंद अच्छे गद्य-लेखक हुए। प्रथम ने अधिकतर अनुवादों की रचना की, और द्वितीय ने पाठशालाओं के लिये पाठ्य-पुस्तकें ही विशेष बनाईं। स्वामी दयानंद सरस्वती ने आर्य-समाज चलाया, तथा इस परिवर्तन-काल में केवल आपने स्थायी ग्रंथ रचे। इनके पीछे भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र वर्तमान गद्य-प्रणाली के सुधारक और सुदृढ़ संस्थापक हुए। इन्होंने हिंदी का बड़ा उप-कार किया। इनके प्रोत्साहन और परिश्रम से सैकड़ों मनुष्य हिंदी के सुलेखक बन गए, और काशी में हिंदी की जड़ बहुत ही पुष्ट होकर

जम गई। हिंदी में इस समय बहुत-से ऐसे लेखक वर्तमान हैं, जिनका गद्य स्वयं भारतेंदु के गद्य से टक्कर ही नहीं लेता, वरन् आगे भी निकल जाता है। इस स्थान पर हम वर्तमान गद्य-लेखकों के विषय में कुछ लिखना आवश्यक नहीं समझते।

पद्माकर के पीछे देवकाष्ठ जिह्वा, नवीन, पजनेस, सेवक, सरदार, कुमारमणि भट्ट, द्विजदेव, भौन, गदाधरभट्ट, औध, लछिराम, सहजराम, लेखराज, ललित और प्रतापनारायण मिश्र सुकवि हुए। फिर भी यह अवश्य कहना पड़ता है कि यदि हरिश्चंद्र को निकाल डालें, तो रघुनाथ और पद्माकर के समय में जैसे सत्कवि हुए हैं, वैसे क्या, उनकी चतुर्थांश योग्यता के भी कवि भारतेंदु-युग में नहीं हैं। इससे यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि अब कविता की अवनति हो रही है। कारण, रघुनाथ और पद्माकर के समय में, नवरत्नों को निकाल डालने पर, सभी कालों के कवियों से अधिक और श्लाघ्य कवि हुए। आजकल भी बहुत-से सुकवि विद्यमान हैं। अब ऐसा समय आ गया है कि प्राचीन प्रथा की पद्य-रचना भी धीरे-धीरे उठती जाती है। लोग भक्ति एवं प्रेम को छोड़कर पाश्चात्य प्रकार के विषयों पर पद्य-रचना अब अधिक पसंद करते जाते हैं। यह बात उचित भी है। हिंदी में भूतकाल के कवियों ने प्रधानतः धर्म और शृंगार पर ही ध्यान रक्खा, और इन विषयों पर मान्य ग्रंथ भी बहुत बन चुके हैं। अब इन्हीं विषयों पर रचना करके एक तो भूतकालवाले महाकवियों के सम्मुख यश प्राप्त करना बहुत कठिन है, दूसरे, उसी चर्वित-चर्वण से कोई लाभ नहीं देख पड़ता। फिर वह समयानुकूल भी नहीं है। इन कारणों से, पाश्चात्य-प्रणाली से लाभ उठाकर, भाषा में सामयिक कविता करके उसकी अधिकाधिक उन्नति करनी ही उचित है। यशःप्राप्ति के लिये यही बुद्धिमत्ता की बात भी है। अब इस प्रकार के कवि होते भी अधिकता से हैं।

सूर और तुलसी के समय तक भाषा में अनुप्रास का आदर तो था, पर उस पर बहुत अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था। बिहारी तथा सेनापति ने इस पर विशेष ध्यान दिया। उधर मतिराम ने सरल, साधु भाषा लिखकर भी यमक आदि का विशेष मान नहीं किया। सो इस काल में अनुप्रास-पूर्ण कविता के विषय में कुछ गड़बड़-सी थी। इसी समय महाकवि देव का जन्म हुआ, जिन्होंने पद-मैत्री से परम प्रगाढ़ मैत्री रक्खी, और उसका परमोत्कृष्ट प्रयोग किया। इसी समय से इसका संबंध भाषा-साहित्य से बहुत घनिष्ठ हो गया। पद्माकर ने तो इसे दोनो हाथों से अपनाया। पद-मैत्री से इतना लाभ तो अवश्य है कि संसार में किसी भाषा की रचना हिंदी-कविता के समान सुष्ठु और श्रुति-मधुर न होगी। श्रुति-कटु वर्णों का जितना बराव इस भाषा में है, उतना किसी अन्य भाषा में न होगा। पद-मैत्री में इतना विचार अवश्य रखना चाहिए कि उसके लालच में भाव न बिगड़ने पावे, और अनुचित शब्दों का प्रयोग न हो। यदि ये दूषण बचाकर कोई पद-मैत्री लावे, तो वह सर्वथा प्रशंसनीय है।

बहुत दिनों से कुछ कवियों का विचार तुकांत-हीन छंद लिखने का है। आल्हा-छंद तुकांत-हीन होने पर भी ललित है। फिर भी अभी बहुतों को तुकांत-हीन छंदों में कोई ग्रंथ बनाने का साहस नहीं हुआ है। जिस दिन कुछ श्लाघ्य तुकांत-हीन ग्रंथ बन जायँगे, उसी दिन ऐसे छंद भी चल जायँगे। इनका प्रयोग बढ़ भी रहा है।

इसी स्थान पर साहित्य का यह संक्षिप्त इतिहास समाप्त होता है। इसके पढ़ने से यह प्रकट होगा कि नवरत्न के कविगण कैसे-कैसे समयों में हुए, और उनका प्रभाव साहित्य पर कैसा-कैसा पड़ा? अब हम अधिक कुछ न कहकर यह क्षुद्र ग्रंथ पाठकों की सेवा में अर्पित करते हैं। आशा है, पाठकवृंद इसे पसंद करके हमारा श्रम सफल करेंगे। इस ग्रंथ का पहला संस्करण सं० १९९१ में निकला था, दूसरा सं० १९९७ में, तीसरा सं० २००० में, चौथा सं० २००३ में, तथा पाँचवाँ यह निकल रहा है।

लखनऊ }
२००५ } मिश्रबंधु

नवरत्न के कवियों का अंदाज़ी समय

नंबर	नाम	जन्म-संवत्	मृत्यु-संवत्	अवस्था	जाति	कालांतर*	कितने वर्ष कौन कवि औरों का समकालीन रहा
१	चंदबरदाई	११८३	१२५०	६७	ब्रह्मभट्ट	×	× × × ×
२	कबीरदास	१४५५	१५७५	१२०	जुलाहा	२७२	नं० २ व ३=४०
३	सूरदास	१५३५	१६४२	१०७	सारस्वत ब्राह्मण	८०	नं० २व३=४०, नं० ३व४=५३, नं० ३व५=३४
४	तुलसीदास	१५८९	१६८०	९१	कान्यकुब्ज ब्राह्मण	५४	नं० ३व४=५३, नं०४व५=६२, नं० ४ व ६=२०
५	केशवदास	१६१२	१६७४	६२	सनाढ्य ब्राह्मण	२३	नं० ५व४=६२,नं०५व३=३०, नं० ५व ६=१४
६	बिहारीलाल	१६६०	१७२०	६०	माथुर ब्राह्मण	४८	नं० ६व४=२०, नं० ६व५=१४, नं० ६व७ (क) = २८, नं० ६व७ (ख) = २४

* अर्थात् वह कवि अपने पूर्ववर्ती कवि के जन्म से कितने वर्ष पीछे उत्पन्न हुआ।

नवरत्न के कवियों का अंदाज़ी समय

नंबर	नाम	जन्म-संवत्	मृत्यु-संवत्	अवस्था	जाति	कालांतर	कितने वर्ष कौन कवि औरों का समकालीन रहा
७	(क) भूषण	१६९२	१७९७	१०५	कान्यकुब्ज ब्राह्मण	३२	नं० ७ (क) व ६=२८, नं० ७ (क) व ७ ख = ७७, नं० • (क) व ८=६७
	(ख) मतिराम	१६९६	१७७३	७७	कान्यकुब्ज ब्राह्मण	४	नं० ७ (ख) व ६=२४, नं० ७ (ख) व ७ (क) = ७७, नं० ७ (ख) व ८ = ४३
८	देवदत्त	१?३०	१८२४	९४	कान्यकुब्ज ब्राह्मण	३४	नं० ८ व ७ (क) = ६७. नं० ८ व ७ (ख) = ४३
९	हरिश्चंद्र	१९०७	१९४१	३४	अग्रवाल वैश्य	१७७	× × × ×

संक्षिप्त हिंदी-नवरत्न

अर्थात्

हिंदी के नव सर्वोत्कृष्ट कवि

(१)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी

—— :(०): ——

खोज से दृढ़ अनुमान किया गया है कि गोस्वामीजी का जन्म राजापुर, तहसील और परगना मऊ, ज़िला बाँदा में, संवत् १५८९ में, हुआ। गोस्वामीजी का जन्म-काल प्रसिद्ध रामायण-रसिक रामगुलाम द्विवेदी के कथन पर निर्धारित किया गया है, और उसे बड़े-बड़े लेखकों ने ठीक माना है। राजापुर एक अच्छा क़स्बा है। यह यमुनाजी के किनारे, करवी, रेलवे-स्टेशन (जी० आई० पी०) से १६ मील पर, बसा है। आजकल दो नए ग्रंथ निकले हैं, जिनमें से एक इनकी स्त्री का कहा जाता है। उनमें नंददास इनके चचेरे भाई हैं तथा सोरों (शूकर-क्षेत्र) जन्म-स्थान। अभी इनकी दृढ़ता निश्चित नहीं।

इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे और माता का हुलसी था। इनका असल नाम 'रामबोला' था ; परंतु बैरागी

होने पर तुलसीदास हुआ। इनका जन्म अभुक्त 'मूल'-नक्षत्र में हुआ था। जान पड़ता है, इनके माता-पिता इनकी बाल्यावस्था में ही स्वर्गवासी हो गए थे, और यह दाने-दाने को 'बिलखाते' फिरते थे। देखिए—

"बारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन
जानत हो चारि फल चारि ही चनक को।"
(कवितावली)

कुछ लोग समझते हैं, इनके माता-पिता ने इन्हें छोड़ दिया था। यदि माता-पिता ने इन्हें सचमुच छोड़ ही दिया होगा, तो भी कबीर साहब की भाँति कहीं फेक न दिया होगा, वरन् किसी को सौंप दिया होगा। फेके जाने से इनके कुल आदि का पता न लगता। विनय-पत्रिका में एक स्थान पर आपने यह भी लिखा है कि माता-पिता ने आपको विना संस्कार किए ही छोड़ दिया था। कहते हैं, यह मुनिया महरी को सौंपे गए थे, और पाँच वर्ष के पीछे उसके मरने पर परेशान हुए। इनका विवाह दीनबंधु पाठक की कन्या रत्नावली से होना कहा जाता है। उससे इनके तारक-नामक एक पुत्र भी हुआ, पर वह बचपन में ही स्वर्गवासी हो गया। यह भी सुना जाता है कि गोस्वामीजी अपनी स्त्री पर बड़ा ही प्रेम रखते थे। यह उसके नैहर जाने पर एक बार वहीं जा पहुँचे। इस पर स्त्री ने कहा, यदि आप इतना प्रेम परमेश्वर से करते, तो न-जाने क्या फल होता! तब तो तुलसीदास की आँखें खुल गईं। वह घर छोड़ चल दिए, तथा बैरागी हो गए।

गोस्वामीजी घर से निकल श्रीस्वामी रामानंदजी महाराज के शिष्य-सम्प्रदायवाले महात्मा नरहरिदासजी के पास गए, और उनके मंत्र-शिष्य हो गए। इस समय इनकी अवस्था प्राय: २५ वर्ष की होगी; क्योंकि निर्धन होने के कारण इनका शीघ्र विवाह होना

अनुमान-सिद्ध नहीं। इनके एक ही लड़का तब तक हुआ था। इन्होंने रामायण में लिखा है—

"मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सु सूकर-खेत;
समुझि नहीं तस बालपन, तब अति रह्यों अचेत।
तदपि कही गुरु बारहिंबारा;
समुझि परी कछु मति-अनुसारा।"

जान पड़ता है, वैराग्य ग्रहण करने के पूर्व गोस्वामीजी नरहरिदासजी से विद्या भी पढ़ते थे, और उसी समय आपने उनसे कथा सुनी थी। पीछे से बैरागी होने पर गोस्वामीजी ने उन्हीं को अपना दीक्षागुरु भी कर लिया।

आपने लिखा है—

"पूछ्यो ज्यों ही. कह्यों, मैं हूँ चेरो ह्वै हौं रावरो जू,
मेरे कोऊ कहूँ नाहीं, चरन गहत हौं;
"लोग कहैं पोच. सो न सोच, न सँकोच मेरे,
ब्याह न बरेखी, जाति-पाँति न चहत हौं।"

गृह-त्याग के पीछे गोस्वामीजी प्राय: तीर्थ-स्थानों में घूमते रहे। यह महाशय मथुरा, वृंदावन, कुरुक्षेत्र, प्रयाग, चित्रकूट, जगन्नाथपुरी, शूकर-क्षेत्र (सोरों) आदि स्थानों में जाया-आया करते थे, और अयोध्या में अधिकतर रहते थे, पर इनका मुख्य वास-स्थान काशी था। वहाँ बहुत-से स्थानों में अब तक इनके स्मारक वर्तमान हैं। उनमें निम्नलिखित चार प्रसिद्ध हैं—

(१) असी पर गोस्वामीजी का घाट। यहाँ इनके स्थापित हनुमान्‌जी और इनकी गुफा हैं। यहीं यह विशेषकर रहते थे, और इसी स्थान पर इनका शरीर-पात भी हुआ।

(२) गोपाल-मंदिर। यहाँ श्रीमुकुंदरायजी के बाग़ में एक कोठरी है, जिसमें इनकी बैठक थी। यह स्थान बिंदुमाधवजी के समीप है।

(३) प्रह्लाद-घाट

(४)संकटमोचन हनुमान् । इन्हीं महाशय की स्थापित की हुई यह मूर्ति, नगवे के समीप, असी के नाले पर, अब तक वर्तमान है। संभवतः इसी हनुमन्मूर्ति की प्रशंसा में 'संकटमोचन' बना। वृद्धावस्था में आप लोलार्क मठ (काशी) के महंत हो गए थे।

गोस्वामीजी पहले हनुमान् फाटक पर रहते थे, फिर मुसलमानों के उपद्रव के कारण गोपाल-मंदिर में आए, और वहाँ वल्लभ-संप्रदायवाले गुसाइयों से विरोध हो जाने के कारण असी-घाट पर रहने लगे। असी पर गोस्वामीजी ने अपनी रामायण के अनुसार राम-लीला आरंभ कर दी थी, जो वहाँ अब तक होती है। यह लीला काशी की सब लीलाओं से पुरानी है। गोस्वामीजी कृष्ण-लीला भी कराते थे, और इनके घाट पर कार्तिक-कृष्णा ५ को अब तक कालिय-दमन-लीला होती है।

बनारस के खत्री टोडरमल (प्रसिद्ध मंत्री टोडरमल नहीं), ख़ान-ख़ाना, महाराजा मानसिंह, मधुसूदन सरस्वती और नाभादासजी से इनकी मित्रता थी। टोडरमल के कुटुंबियों में कुछ झगड़ा हुआ था, जिसमें गोस्वामीजी पंच नियत हुए। इसका फ़ैसलनामा, स्वयं इनके हाथ का लिखा, महाराजा बनारस के यहाँ अब तक सुरक्षित है।

गोस्वामीजी को अंत में कुछ दिन वात-रोग से पीड़ित रहना पड़ा जिससे यह बहुत दुःखित हुए। इसी क्लेस में इन्होंने 'हनुमान्-बाहुक' की रचना की। उसमें ४४ छंद हैं। उसे देखने से ज्ञात होता है कि गोस्वामीजी को कई मास तक बाई से बहुत ही क्लेश रहा होगा। दोहावली में भी इस पीड़ा का वर्णन, तीन दोहों में, है। यह पीड़ इनके दक्षिण बाहु-मूल में थी। इसका वर्णन इन्होंने इस भाँति किया है—

"बात तरु-मूल बाहु-शूल कपि कच्छु बेली.
उपजी सकेलि कपि खेल ही उखारिए।"

"आलस, अनख, परिहास की सिखावन है,
एते दिन रही पीर तुलसी के बाहु की।"
"आपने ही पाप ते, त्रिताप ते कि शाप ते,
बढ़ी है बाहु-बेदन, न नेकु सहि जाति है;
औषधि अनेक, जंत्र-मंत्र, टोटकादि किए,
बादि भए, देवता मनाए अधिकाति है।
करतार, भरतार, हरतार कर्म काल,
को है जग-जाल, जो न मानत इताति है,
चेरो तेरो तुलसी, तू मेरो कह्यो राम-दूत,
ढील तेरी बार मोहि पीर ते पिराति है।"
"अभिभूति बेदन बिषम होत भूतनाथ,
तुलसी बिकल पाहि पचत कुपीर हौं:
मारिए, तौ अनायास कासी-बास खास फल,
ज्याइए, तौ कृपा करि निरुज-सरीर हौं।"
"तुलसी-तनु सर, सुख-जलज, भुज-रुज गज बरजोर;
दलत दयानिधि देखिए कपि-केसरी-किसोर।"

जान पड़ता है, इसके पीछे इनकी पीड़ा कुछ शांत हो गई थी, क्योंकि यह लिखते हैं—

"खाए हुते तुलसी कुरोग राँड़ राकसिनि,
केसरी-किसोर राखे बीर बरियाई है।"

परंतु फिर भी उससे इनके रोग को पूर्ण निवृत्ति नहीं हुई। कारण, इसके पश्चात् नव छंदों में फिर भी रोग से मुक्त होने की प्रार्थना की गई है। इन महाशय का अंतिम दोहा यह है—

"राम-नाम जस बरनिकै भयो चहत अब मौन,
तुलसी के मुख दीजिए अबही तुलसी-सोन।"

इनकी मृत्यु के विषय में निम्न-लिखित दोहा प्रसिद्ध है—

"संबत सोरह सै असी, असी-गंग के तीर,
सावन-सुकुला सत्तिमी तुलसी तज्यो सरीर।"

राजापुर में हमने इस विषय की जाँच की, तो वहाँ गोस्वामीजी सरवरिया ही समझे जाते हैं। हाथरस के प्राचीन तुलसी साहब आपको कनौजिया कहते हैं। यह मान्य प्रमाण है।

गोस्वामीजी ने अपने विषय में बहुत कम बातें लिखी हैं। अतः इनकी जीवनी लिखने में बाह्य प्रमाणों की विशेष आवश्यकता है। उनमें से निम्न-लिखित प्रधान हैं—

(१) बाबा बेनीमाधवदास-कृत गोसाईं-चरित्र तथा बाबा रघुबरदास-कृत तुलसी-चरित्र में गोस्वामीजी का विस्तार से वर्णन है, किंतु इन दोनो में आपस ही में प्रतिकूलताएँ हैं, स्वयं गोस्वामी तुलसीदास के कथनों से विरोध हैं, तथा अनेकानेक असंभव कथन एवं ऐतिहासिक अशुद्धताएँ हैं। इन कारणों से यद्यपि ये लोग गोस्वामीजी के शिष्य कहे जाते हैं, तथापि इनके वर्णन अनिश्चित हैं। महात्मा नाभादास, रामगुलाम द्विवेदी तथा बंदन पाठक के कथन दृढ़ माने जाते हैं।

(२) नाभादास-कृत भक्तमाल। यह संवत् १६४२ से १६८० तक किसी समय बनी। इसमें गोस्वामीजी के विषय में केवल एक छप्पै दी हुई है, परंतु उनके शिष्य प्रियादास ने, संवत् १७६९ में, जो भक्तमाल की टीका बनाई, उसमें ११ कवित्तों द्वारा गोस्वामीजी के वृत्तांत का वर्णन किया।

(३) डॉक्टर ग्रियर्सन ने भी उपर्युक्त प्रमाणों को जाँचकर और गोस्वामीजी के विषय की कहावतें एकत्र कर उनका चरित्र लिखा।

(४) पंडित रामगुलाम द्विवेदी और पंडित बंदन पाठक ने भी गोस्वामीजी के ग्रंथों पर बहुत ही सराहनीय श्रम किया। जीवन-

चरित्र के अतिरिक्त इन महात्माओं ने गोस्वामीजी के ग्रंथों पर टीकाएँ भी कीं। इस विषय में छक्कनलाल का श्रम भी सराहनीय है।

(५) वर्तमान काल में भी रामचरणदास, ज्वालाप्रसाद मिश्र, बैजनाथ कुर्मी और सुखदेवलाल कायस्थ ने इनके ग्रंथों पर भारी तथा श्रेष्ठ टीकाएँ लिखीं।

इनके अतिरिक्त गोस्वामीजी ने भी प्रसंग वश कहीं कहीं कुछ बातें अपने विषय में लिख दी हैं। उनसे यह भी विदित होता है कि किसी समय लोग गोस्वामीजी से बहुत चिढ़ते थे, और इन्हें बुरा समझते थे। यह बात इनके छ ग्रंथों में कई जगह झलकती है, परंतु यहाँ केवल एक छंद दिया जाता है—

"धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ ;
काहू कि बेटा से बेटा न ब्याहब, काहू कि जाति बिगार न सोऊ।
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सु कहै कछु ओऊ ;
माँगिकै खैबो, मसीद को सोयबो, लेबे को एक न देबे को दोऊ।"

इसमें गोसाइँजी स्पष्ट कहते हैं कि उनको चाहे कोई कुछ भी कहे, उनको किसी की बेटी से अपना बेटा नहीं ब्याहना है कि उससे उसकी जाति बिगड़े। वह चाहे मस्जिद ही में क्यों न सोवें, किसी को क्या ! उनको किसी से लेना एक, न देना दो। पीछे से यह भी लिखा है कि उनका मान लोग ऋषियों के समान करने लगे थे।

यह महाशय स्मार्त वैष्णव माने गए हैं ! इन्होंने रामायण में लिखा है, संवत् १६३१ के—

"नवमी, भौमवार, मधु-मासा ;
अवध-पुरी यह चरित प्रकासा।"

इस मंगलवार को उदय-काल में राम-नवमी न थी। मध्याह्न व्यापिनी होने के कारण स्मार्त-वैष्णवों के मतानुसार ही उस दिन नवमी माननीय थी। शेष वैष्णवों के मत से राम-नवमी बुध को थी।

स्मार्त-वैष्णव किसी मत का विरोध न करके भक्ति की प्रधानता रखते हैं। स्मार्त-मतवाले बहुधा शैव होते हैं। उनकी यह भी विशेषता है कि वे सब देवतों को बिलकुल समान मानते हैं। आपने शिव की महत्ता गाई है, जो उस काल के वैष्णव नहीं करते थे। इसी से विरोधाभाव के कारण किसी-किसी ने आपको स्मार्त कहा है। वास्तव में आपने राम का पल्ला रक्खा ही है, अत: पूर्णतया स्मार्त न मानकर हम इन्हें भागवत-मत का मान सकते हैं। भागवतों का भी विरोध किसी से नहीं होता, यद्यपि किसी की मुख्यता वे मान सकते हैं। आपकी भक्ति दास-भाव की थी।

गोस्वामी तुलसीदास की मुख्य महत्ताएँ दो हैं। आप परमोत्कृष्ट कवि तथा धर्मोपदेशक थे। जिस समय आपका प्रादुर्भाव हुआ, उस समय भारतीय धार्मिक विश्वासों की दशा कुछ अवांछनीय थी। मुसलमानों ने एकेश्वरवाद पर पूर्ण श्रद्धा प्रकट करके भारतीय धार्मिक विचारों में कुछ नवीनता-सी उपस्थित की थी। प्राचीन काल में हमारे यहाँ एकेश्वरवाद पूर्ण रूप से दृढ़ था, किंतु पीछे से ब्रह्मा, विष्णु और महेश के विचारों ने इसमें कुछ गड़बड़ कर दी थी। यह त्रिमूर्ति-संबंधी विचार वास्तव में एकेश्वरवाद के अणु-मात्र प्रतिकूल नहीं है। वही ईश्वर उत्पादक होकर ब्रह्मा, पालक होकर विष्णु और विनाशक होकर रुद्र है। वास्तव में ये तीन व्यक्ति नहीं हैं, वरन् एक ही ईश्वर के तीन भाव हैं। पंडित लोग अब भी इस बात को मानते हैं, तथा सदैव मानते रहे हैं; किंतु साधारण जनता चिरकाल से ब्रह्मा, विष्णु और महेश को तीन पृथक् पृथक् देवता मानती आई है। पुराणों में भी ये देवता भाव-मात्र न माने जाकर तीन पृथक्-पृथक् व्यक्ति हो गए, यहाँ तक कि इनमें परस्पर युद्धादि भी होने लगे। इन्हीं बातों से राह भूलकर जनता इन्हें तीन देवता मानने लगी, और आदि शक्ति को भी पृथक देवी समझ

बैठी। फल यह हुआ कि शैव, वैष्णव और शाक्त, एक दूसरे को बुरा कहने लगे, यहाँ तक कि बिना एक दूसरे के मतों को गाली दिए बहुत से शैवों, शाक्तों एवं वैष्णवों का चित्त ही प्रसन्न नहीं होता था। उधर हिंदुओं और मुसलमानों के धार्मिक विचारों में भी अच्छा-खासा झगड़ा उपस्थित था। इस प्रकार हिंदू-मुसलमानों का एक धार्मिक विभ्राट् था, और हिंदुओं में शैवों, शाक्तों तथा वैष्णवों का दूसरा। इसे मिटाने को पहले महात्मा कबीरदास का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने एकेश्वरवाद का सच्चा उपदेश दिया, और हिंदू-मुसलमानों की एकता दिखलाई। आपने सगुणोपासना को भी कुछ-कुछ हेय ठहराकर मुख्यतया निर्गुणोपासना का उपदेश दिया।

शुद्ध निर्गुणोपासना का प्रयोजन स्थूल रूप से इस भाँति है कि परमेश्वर शक्ति-स्वरूप है। उसके नियम दयामय हैं, किंतु नियमातिरिक्त दया वह नहीं कर सकता, या नहीं करता। यदि एक गेहूँ बोइए, और उसे युक्ति से पालिए, तो समय पर ईश्वरीय नियम आपको उसके बदले पचास गेहूँ देगा, किंतु यदि उचित उपाय न कीजिए, तो वह एक गेहूँ भी सूख जायगा। अतएव ईश्वरीय नियम दयामय हैं, किंतु उस दया से लाभ उठाने के लिये यत्न की भी आवश्यकता है, और कोरी प्रार्थना से काम नहीं चलता। बीमारी से बचने के लिये बुद्धि से काम लेकर उचित दवा करनी होगी, और केवल उपासना से रोग-शांति न होगी। इसी प्रकार के अनेकानेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। निर्गुण परमेश्वर की दया व्यष्टि मूलक न होकर समष्टि मूलक है।

ये विचार तार्किक रीति से शुद्ध होने पर भी मनुष्य की मानसिक निर्बलता के कारण उसे पसंद कम आते हैं। इनको पसंद करनेवाले थोड़े ही से पंडित निकलेंगे, अथच साधारण जनता इससे लाभ उठाने में नितांत असमर्थ रहेगी, क्योंकि उसे केवल तार्किक शुद्धता की ही नहीं, वरन् अपने से प्रेम करनेवाले और गज-ग्राह की-सी पुकार

सुननेवाले ईश्वर की भी आवश्यकता पड़ती है। यद्यपि महात्मा कबीरदास ने पूर्णतया से निर्गुण ब्रह्म का कथन न करके प्रेम-भाजन तथा पुकार सुननेवाले ईश्वर का उपदेश दिया, तथापि उनके ईश्वर में निर्गुणता का अंश विशेष था, और सगुणोपासना का थोड़ा या कुछ भी नहीं। सुतराम् उनका उपदेश साधारण जनता के लिये इतना ऊँचा था कि वह उसे प्रायः अलभ्य था। इसी प्रकार हिंदू-मुसलमानी मतों को एक मानने को भी जनता तैयार न थी। अतएव परमोच्च एवं परमोपयोगी होने पर भी महात्मा कबीरदास की शिक्षा जनता के लिये वैसी लाभदायक न हुई। संसार को एक ऐसे उपदेशक की आवश्यकता थी, जो अधिक लोकमान्य उपदेशों का प्रचार करे। महात्मा तुलसीदास कबीर साहब से प्रायः सौ वर्ष पीछे हुए। आपने हिंदू-मुसलमानों के मतों में ऐक्य उत्पन्न करने का विचार छोड़कर केवल हिंदुओं की सब शाखाओं के एकीकरण का प्रयत्न किया। हिंदुओं में एकेश्वरवाद की जो कमी हो गई थी, उसे इन महात्मा ने पूरा किया। आपने सब देवतों पर रामचंद्र का परत्व सिखलाया और अद्वैतवाद को पूर्णतया दृढ़ करके ईश्वरीय महत्ता को भली भाँति स्थापित किया। आपने राम को "विधिहरिविष्णु नचावनहारे" बतलाया और साधारण इंद्रादि देवतों को ऋषियों, मुनियों तक से कम कहकर उनकी अनीश्वरता प्रकट की (देवतों के विषय का वर्णन देखिए)। फिर भी शैव, शाक्त, वैष्णव आदि मतों को निंद्य न कहकर आपने शक्ति, शिव, विष्णु आदि का उचित मान स्थिर रक्खा। इस प्रकार हिंदुओं के ईश्वरत्रयवाद को ध्वस्त करते हुए भी आपने त्रिमूर्ति की निंदा नहीं की, और शैवों, वैष्णवों आदि की एक दूसरे को गाली देनेवाली प्रकृति को यह सिखलाकर दूर किया कि जो इनमें से एक को बुरा कहकर अपने को दूसरे का दास मानता है, वह वास्तव में भक्त न होकर पापी है, और नर्क में पड़ता है।

निर्गुणोपासना को मानते हुए भी आपने सगुण ईश्वर तथा अवतार भी माने। तथापि इन्हें तर्क-हीन बतलाकर आपने प्राचीन तर्कवाद को प्रकट रूप में बिना काटे हुए ही नवीन भक्तिवाद दृढ़ किया, क्योंकि इनके समय में शंकर एवं रामानुज का तर्कवाद अपना काम पूरा कर चुकने से मुसलमानी धार्मिक पक्ष में भी शास्त्र-प्रयोग के कारण अनावश्यक हो गया था। इस प्रकार गोस्वामीजी ने हिंदुओं के मत-वादों का वैमनस्य दूर करके उनमें ऐक्य स्थापित किया! जैसे गौतम बुद्ध, नानक आदि महात्माओं ने जनता तक उपदेश पहुँचाने के विचार से देश-भाषाओं ही में शिक्षा दी, उसी प्रकार हमारे गोस्वामीजी ने सर्व-साधारण के समझने योग्य सरल हिंदी में उपदेश दिए। महात्मा सूरदास आदि कवियों ने भी अच्छी भक्ति दिखलाई थी, किंतु कठिन भाषा और श्रृंगार-पूर्ण वर्णन होने के कारण उनके उपदेशों ने वैसा लाभ नहीं पहुँचाया। इधर गोस्वामीजी ने भगवान् रामचंद्र का वर्णन बहुत सजीव तथा मर्यादा-पूर्ण किया, जिससे आपके उपदेशों का प्रभाव बहुत भारी पड़ा, और सरल भाषा के कवि होने से आप उत्तर-भारत के सबसे बड़े उपदेशक और चरित्र-संशोधक हुए। शंकराचार्य के पीछे आप ही हमारे सर्वोत्कृष्ट उपदेशक थे। हिंदू-धर्म को जैसा आपने बनाया, वैसा ही वह आज है। उस काल उसका वह रूप उचित भी था। आजकल, समय के फेर से, उसकी कई बातें अनुचित हो गई हैं, और धीरे-धीरे दूर होकर समाज की वर्तमान दशा के अनुसार हमारे आचरण बन रहे हैं।

उदाहरण— विनय-पत्रिका

"सेइय सहित सनेह देह धरि कामधेनु कलि कासी ;
समनि सोक, संताप, पाप, रुज, सकल सुमंगल-रासी।
मरजादा चहुँ ओर चरन बर सेवत सुरपुर-बासी ;
तीरथ सब सुभ अंग, रोम सिवलिंग अमित अबिनासी ॥१॥"

"अब चित चेति चित्रकूटहि चलु।
कोपित कलि, लोपित मंगल-मग, बिलसत बढ़त मोह-माया-मलु ;
भूमि बिलोकि राम-पद-अंकित, बन बिलोकि रघुबर-बिहार-थलु।
शैल-शृंग भव-भंग-हेतु लखु, दलन कपट, पाखंड, दंभ-दलु ;
न करु बिलंब, बिचारु चारु मति, बरष पाछिले सम अगिलेहु पलु॥२॥"

विद्वानों ने विनय-पत्रिका के विषय को इन सात भागों में विभक्त किया है—दीनता, मान-मर्षण, भय-दर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचार।

विनय-पत्रिका में प्रायः सभी देवतों की स्तुति की गई है, और इसके भाव सच्चे तथा मनोहर हैं। बहुत-से पंडितों का मत है कि यह गोस्वामीजी के ग्रंथों में श्रेष्ठ है। हम भी इस ग्रंथ को प्रशंसनीय समझते हैं। विनय-संबंधी ऐसा अद्भुत और भाव-पूर्ण ग्रंथ हमने अब तक किसी भी भाषा में नहीं देखा। वेद भगवान् के पीछे सर्वोत्कृष्ट विनय-ग्रंथ यही जँचता है।

रामचरित-मानस को छोड़कर गोस्वामीजी के ३१ ग्रंथ और कहे जाते हैं, जिनमें से कतिपय इसी नामवाले अन्य कवियों के हो सकते हैं। आपकी शिष्य-परंपरा में कई महाशय स्वयं आप ही से संबंध रखते थे। इस परंपरा ने गोस्वामीजी-कृत ग्रंथों पर विचार करके मानस के अतिरिक्त रामलला-नहछू, वैराग्य-संदीपिनी, बरवै रामायण, पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल, रामाज्ञा, दोहावली, गीतावली-रामायण, कवितावली-रामायण, कृष्ण-गीतावली और विनय-पत्रिका को तुलसी-कृत माना है। शिष्य परंपरा के विचारों को दृढ़ मानना ठीक ही था; किंतु इनके असल माने हुए कुछ ग्रंथ ऐसे हैं, जिनमें कथित विचार रामचरित-मानस के कुछ दृढ़ विचारों के प्रतिकूल पड़ते हैं। जैसे वैराग्य-संदीपिनी में लिखा है कि ज्ञान भक्ति का भूषण है, और अंतिम सुख शांति से मिलता है, न कि भक्ति से। ये कथन शुद्ध

हों अथवा अशुद्ध, किंतु मानसकार के सिद्धांतों से पूर्णतया अनभिज्ञ हैं। हमारी धारणा है कि ये विचार महात्मा तुलसीदास के नहीं हो सकते। इसी प्रकार रामलला-नहछू में नायन, भाटिन आदि के यौवन का ऐसा शृंगार-पूर्ण वर्णन है, जो गोस्वामीजी की लेखनी से नहीं निकल सकता था। इसमें परिहास की मात्रा इतनी बढ़ी हुई है कि राम-लक्ष्मण महाराजा दशरथ के पुत्र हो नहीं हैं, ऐसा भी कह डाला गया है। हमें इन दोनो ग्रंथों को तुलसी-कृत मानने में पूर्ण संकोच है। यदि शिष्य-परंपरा द्वारा असली मानी हुई ग्रंथावली में एक बार कुछ भी घटाव बढ़ाव हो जाय, तो शेष ग्रंथों पर भी स्वतन्त्र विचार करना ही पड़ता है।

शिष्य-परंपरा द्वारा माने हुए ग्रंथों में से हमें उपर्युक्त दो के अतिरिक्त बरवै-रामायण, पार्वती-मंगल तथा रामाज्ञा-प्रश्न भी कल्पित जँचते हैं। बरवै-रामायण के कई छंद ऐसे उत्कृष्ट हैं, जो किसी भी कवि के यश को वर्द्धित कर सकते हैं। फिर भी इस ग्रंथ की रचना-प्रणाली कई स्थानों में गोस्वामीजी की प्रणाली से प्रतिकूल दिखलाई पड़ती है। इस छोटे-से ग्रंथ में सीताजी का शृंगार-पूर्ण वर्णन कई स्थानों पर है, किंतु गोस्वामीजी की आदत के अनुसार जगत्-जननी आदि कहकर दोष शांति प्रायः कहीं भी नहीं कराई गई है। हनुमान्‌जी सीताराम को माता-पिता के समान मानते थे। बरवै-रामायण में एक स्थान पर उन्होंने राम से सीताजी के विषय में जैसे विचार कहे हैं, वैसे कोई पुत्र पिता से माता के विषय में नहीं कह सकता। यह ग्रंथ किसी सत्कवि द्वारा रचित अवश्य है, किंतु वह कवि कोई दूसरा तुलसीदास होगा। मानस में गोस्वामीजी ने पार्वती के विवाह की दुरवस्था तथा सीताजी के विवाह की उत्तमता दिखलाकर एक प्रकार से अपने इष्ट-देव की महत्ता प्रकट की है। यह बात पार्वती-मंगल में नहीं है, और

केवल इतनी ही कमी इस ग्रंथ में शैथिल्य के अतिरिक्त है भी । हम इसे कल्पित अवश्य मानते हैं, किंतु बहुत दृढ़ता-पूर्वक नहीं । इसकी रचना-शैली जानकी-मंगल से बहुत कुछ मिलती है, किंतु दोनो ग्रंथ शिथिल हैं, और इनसे गोस्वामीजी की महत्ता नहीं बढ़ सकती। रामाज्ञा-प्रश्न में गोस्वामीजी के से विचार अवश्य हैं, किंतु इसकी रचना ऐसी शिथिल है कि इसे गोस्वामीजी-कृत कहने को जी नहीं चाहता।

शिष्य परंपरा द्वारा असली माने हुए शेष ग्रंथों में दोहावली (संग्रह-मात्र) और कृष्ण गीतावली (६१ पदों में) कुछ अच्छे हैं । गीतावली इनसे भी श्रेष्ठ है, और विनय-पत्रिका तथा कवितावली परमोत्कृष्ट हैं। हनुमान्-बाहुक शिष्य परंपरा में कवितावली का अंग माना गया है, किंतु हमें यह पृथक् ग्रंथ समझ पड़ता है। साहित्यिक प्रौढ़ता में यह उससे भी बढ़ा-चढ़ा जान पड़ता है। विनय-पत्रिका में हमें प्रायः ५० पद परमोत्कृष्ट देख पड़ते हैं, गीतावली में प्रायः ७५ और कवितावली में प्रायः पचास। इनमें उत्कृष्ट छंद कुछ और भी हैं, किंतु परमोत्कृष्ट इतने ही समझ पड़ते हैं। जान पड़ता है, गोस्वामीजी श्रीराम के पीछे हनुमान्‌जी को ही मुख्य मानते थे। यह बात मानस में तो अति प्रकट नहीं है, किंतु इतर ग्रंथों में स्पष्ट है। आपका रामशलाका नामक एक और ग्रंथ है, जो स्वतंत्र ग्रंथ न होकर मानस से चुने गए चौपाई-छंदों का संग्रह है, जिनसे प्रश्न उठाए जाते हैं। संकटमोचन ग्रंथ को आपके मित्र गंगादास ने आपके छंदों से संकलित किया था। हनुमान्‌चालीसा एक प्रकार का स्तोत्र है।

कवितावली में ५४ पृष्ठ एवं ३१८ सवैया, घनाक्षरी आदि हैं। यह रामायण के विषय पर एक स्फुट ग्रंथ है, जो साहित्य-गौरव में बहुत श्रेष्ठ है। इसके कुछ छंद रुद्र-बीसी (सं० १६६५ से १६८४ तक) तथा मीन की सनीचरी (१६६९ से १६७१ तक)

में बने, जिससे इनका अंतिम तीनो संवतों में से कभी बनना हो सकता है। हनुमान्-बाहुक में ४४ छप्पय-छंद बहुत सच्चे और उत्कृष्ट हैं। इसमें बाहु-पीड़ा का कथन है। गीतावली में ११२ पृष्ठों एवं ३३० पदों में रामायण की कथा कही गई है। ग्रंथ उत्कृष्ट है। सतसई में ७०० से कुछ ऊपर दोहे हैं, जिनमें भक्ति पर बहुत-से उत्कृष्ट पद्य हैं। इसका नाम शिष्य-परंपरा में नहीं है। दोहावली-संग्रह वैसा अच्छा नहीं है। कृष्ण गीतावली में श्रीकृष्ण पर बढ़िया पद हैं। विनय-पत्रिका (६६पृष्ठ, २८० पद) में साहित्य तथा सिद्धांत-कथन, दोनो उत्कृष्ट हैं। रामायण के अतिरिक्त गोस्वामीजी के ग्रंथों में दोहावली, गीतावली, कृष्ण-गीतावली, विनय-पत्रिका, कवितावली और हनुमान्-बाहुक एक दूसरे से उत्तरोत्तर उत्कृष्ट हैं। सिद्धांत-कथन में विषय-पत्रिका रामायण के पीछे श्रेष्ठतम है। शिष्य-परंपरा ने शायद तुलसी-सतसई का नाम दोहावली लिख दिया हो, और पीछे से वर्तमान दोहावली के संगृहीत होने से पहले की दोहावली सतसई कहलाने लगी हो।

मानस को छोड़कर गोस्वामीजी-कृत शेष ग्रंथों से उत्कृष्ट छंद छाँटकर यदि तुलसी-सुधा अथवा अन्य नाम से कोई संग्रह बनाया जाय, तो सौ-सवा-सौ पृष्ठों का एक परमोत्कृष्ट ग्रंथ बन सकता है। अभी मानस के अतिरिक्त आपके ग्रंथों का विस्तार प्रायः ७०० पृष्ठों का है, जिनमें हर स्थान पर राम-भक्ति का आनंद तो मिलता है, किंतु तादृश साहित्य-गौरव प्रत्येक पृष्ठ पर नहीं है। मानस को पढ़कर गोस्वामीजी-कृत साहित्य-विषयक जो उच्च विचार उठते हैं, वे इनके अन्य ग्रंथों से पूर्णरूपेण दृढ़ नहीं होते। यदि उपर्युक्त संग्रह-ग्रंथ बनाया जाय, तो वह मानसकार को भी गौरव प्रदान कर सकता है। फिर भी आपकी साहित्यिक महत्ता मानस

पर ही निर्भर है, और इनके शेष ग्रंथ निकाल डालने से भी इनका नंबर साहित्य-गौरव में अटल रहेगा, किंतु मानस के निकल जाने से अन्य सब ग्रंथ मिलकर भी शायद इन्हें हिंदी-नवरत्न में स्थान न दिला सकें। ऐसे कथन में मतभेद संभव है, किंतु हमारे अपने विचार इसी प्रकार के हैं।

रामचरित-मानस (तुलसी-कृत रामायण)

"राम-कथा कलि कामद गाई ; सुजन सजीवन-मूरि सुहाई।
सोइ बसुधा-तल सुधा-तरंगिनि ; भय-भंजनि, भ्रमभेक-भुअंगिनि।
बुध-बिसराम, सकल जन-रंजनि ; राम-कथा कलि-कलुष बिभंजनि।
असुर-सेन-समनरक-निकंदिनि ; साधु-बिबुध-कुल-हित-गिरिनंदिनि।
संत-समाज-पयोधि रमा-सी ; विश्व-भार-धर अचल छमा-सी।
राम-कथा सुंदर करतारी ; संसय-बिहँग उड़ावनहारी।
राम-चरित चिंतामनि चारू, संत-सुमति-तिय सुभग सिंगारू।
राम-चरित जे सुनत अघाहीं, रस बिसेख पावा तिन नाहीं।"

इस संसार-साहित्य के मुकुट की रचना का श्रीगणेश संवत् १६३१ विक्रमीय, राम-नवमी, भौमवार को हुआ। गोस्वामीजी ने इसके आदि में संस्कृत के छ श्लोकों द्वारा वाणी, विनायक, भवानी-शंकर, गुरु, कवीश्वर, कपीश्वर, सीता और मायाधीश राम-नामधारी ईश्वर हरि (रामाख्यमीशं हरिम्) की वंदना की है, और फिर सप्तम श्लोक में अपने ग्रंथ के आधार और रचना का कारण लिखा है। यह महाशय वाल्मीकीय रामायण में कथित, नाना-पुराण-निगमागम-सम्मत तथा अन्यत्र की बातों को अपना आधार मानते हैं, और अपने अंतःकरण की प्रसन्नता के अर्थ राम-कथा कहते हैं।

वह न-जाने कौन पवित्र घड़ी थी, जब महात्मा तुलसीदास ने रामचरित-मानस का निर्माण करने के लिये अपनी लेखनी संचालित की। हिंदुओं को ऐसा शुभ मुहूर्त बहुत बार नहीं मिला। इस ग्रंथ रत्न

की ३३ कोटि हिंदुओं में जो महिमा है, उसका उल्लेख करना हमारी निर्बल लेखनी की शक्ति से बाहर है। आज यह पुस्तक संख्या में समस्त भूमंडल के सप्तमांश मानव-जाति का वेद, बाइबिल, ज़ेंदावस्ता, क़ुरान, या जो कुछ कहिए, हो रही है। इसका आधिपत्य हम लोगों पर जितना प्रबल है, उतना शायद बाइबिल का ईसाइयों पर भी न होगा। जिस समय यह कवि कुल-चूड़ामणि लेखनी हाथ में ले अपनी पीयूष-वर्षिणी कविता द्वारा संसार को आप्यायित करने लगते होंगे, उस समय अवश्य ही स्वर्गीय कविवरों की आत्माएँ आनंद-सागर की तरंगों में हिलोरें लेने लगती होंगी! यह ग्रंथ-रत्न जितना सर्वप्रिय है, उतना अन्य कोई भी ग्रंथ नहीं है। केवल अक्षर ज्ञान रखनेवालों से लेकर वेदांती तक समान रूप से इसका आदर करते हैं, और "निज पौरुष परमान ज्यों मसक उड़ाहिं अकास" के अनुसार इसकी प्रशंसा करते हैं। इसकी कविता में ऐसी कुछ मोहिनी शक्ति है, और इसमें भिन्न-भिन्न रुचिवाले पाठकों के लिये उपयोगी इतनी बातें मिलती हैं कि सभी श्रेणियों के मनुष्यों को इससे आनंद मिलता है।

रोचकता में भी यह ग्रंथ अद्वितीय है। ग्राउस साहब ने अँगरेज़ी-गद्य में और मुंशी द्वारकाप्रसाद उफ़ुक़ ने उर्दू-पद्य में इसका अनुवाद किया। कोई भी सुकवि इतना बड़ा भक्त नहीं हुआ, और इसी कारण इतना भक्ति-भाव पूर्ण काव्य करने में कोई भी नहीं समर्थ हुआ। हज़ारों मनुष्य नित्य इसकी पूजा और पाठ करते हैं। इसका आद्योपांत पाठ करने की प्रथा बहुत प्रचलित है। एक बार एक मुंशीजी से हमने कहा कि हम तो रामायण का सदैव इस क्रम से पाठ करते हैं कि श्रीगणेश से इतिश्री तक करके फिर प्रारभ से ही लगा लगा दिया। इस पर मुंशीजी गद्गद होकर तुरंत ही बोल उठे – "जनाब, यह तो क़ायदा ही है। यह क्या कि आज यहाँ, कल वहाँ, मेंढक की तरह उछलता फिरे।"

अनेक स्थानों पर रामायण-समाज स्थापित हैं, और जगह-जगह बाजे के साथ इसका गान किया जाता है। पुराणों की भाँति इसका पाठ भी होता है, जिसे सुनने को सहस्रों नर-नारी एकत्र होती हैं। यह सौभाग्य आज तक हिंदी के किसी भी अन्य ग्रंथ को नहीं प्राप्त हुआ। इसकी पुस्तकें देवालयों में रक्खी रहती हैं, और उनकी देवतों की भाँति पूजा होती है। लोग यंत्र में मढ़कर इसके गुटके गले और बाहु में बाँधते हैं। कहाँ तक कहा जाय, गीता की भाँति यह ग्रंथ-रत्न भी हिंदू धर्म में इतना मिल गया कि इसका एक अंग हो गया है। इस ६०० पृष्ठों के बृहद् ग्रंथ में अनेकानेक विषय आ गए हैं। गोस्वामीजी ने प्रत्येक कांड के प्रारंभ में संस्कृत के श्लोकों और भाषा के छंदों द्वारा देवतों की स्तुतियाँ कीं, तथा उत्तर-कांड में आठ श्लोकों का एक रुद्राष्टक बनाया। बहुत-से कवियों ने इस ग्रंथ की स्तुति, आरती, श्लोक आदि बनाए।

कविता का परिचय

"राम-बाम दिसि जानकी, लखन दाहिनी ओर,
ध्यान सकल कल्यान-कर, सुर-तरु तुलसी तोर।"

गुण-कथन

गोस्वामीजी कथा-वर्णन में कोई बात एकबारगी नहीं कह देते, वरन् आनेवाली बड़ी-बड़ी घटनाओं की पहले से सूचना-सी दे देते हैं, जिससे पाठक को उनका दिग्दर्शन प्रथम से हो रहे। इसी प्रकार औचित्य और अनौचित्य के विषय में भी जगह-जगह पर कुछ लिखते रहते हैं, जिसमें पाठक उनसे सहमत हो जायँ।

"दच्छ न कछु पूँछी कुसलाता; सतिहि बिलोकि जरे सब गाता।"

यहाँ कवि दक्ष के प्रतिकूल पाठकों का क्रोध भड़का रहा है।

"तुलसी जसि भवितव्यता, तइसिय मिलै सहाइ;
आपु न आवै ताहि पै, ताहि तहाँ लइ जाइ।"

यहाँ भानुप्रताप पर आनेवाली विपत्ति का दिग्दर्शन कराया गया है, यद्यपि अभी उसका कहीं पता भी नहीं है।

यह महाशय अपने को तुरंत मुख्य कथा पर पहुँचा देते हैं, और रोचकता-रहित तैयारियों में समय नष्ट नहीं कराते।

"तापस नृपहिं बहुत परितोखी; चला महा कपटी, अति रोखी।"

"नृप हरखे पहिचानि गुरु, भ्रम-बस रहा न चेत ;
बरे तुरत सत-सहस बर, बिप्र कुटुंब-समेत।"

(बाल-कांड)

इनको रावण का कथन शीघ्रता से करना था, अतः केवल दो चौपाइयों में उस राजा भानुप्रताप का नाश कह दिया, जिसकी कथा आठ पृष्ठों से कहते चले आते थे।

"खर-दूषन पहँ गइ बिलखाता; धिक-धिक तव पौरुष,बल भ्राता।"
"तेहि पूछा,सब कहेसि बुझाई; जातुधान सुनि सैन सजाई।"

(आरण्य-कांड)

युद्ध-वर्णन में इन महाशय ने प्रथम दिन हनुमान् और अंगद की प्रधानता रक्खी है, और एक ही दिन के युद्ध में "आधा कटक कपिन संहारा।" द्वितीय दिन मेघनाद की प्रधानता रही, परंतु यह विजयी निशाचरों को भी किसी-न-किसी प्रकार नीचा दिखा दिया करते थे। मेघनाद ने जब लक्ष्मण को मूर्च्छित कर दिया, तब वह उन्हें उठा ही न सका। इसी प्रकार उन्हें मूर्च्छित करके रावण भी नहीं उठा सका, और हनुमान् का मूका लगने से आप ही गिर पड़ा। जान पड़ता है, गोस्वामीजी की भक्ति उन्हें निशाचरों की प्रसन्नता में कुछ-न-कुछ दुख मिला देने के लिये विवश करती थी। तीसरे दिन कुंभकर्ण ने समस्त वानर-सेना को परास्त कर दिया, और रामचंद्र को घोर युद्ध करके उसका वध करना पड़ा। रामचंद्रवाली दूसरे दिन की लड़ाई बहुत थोड़ी है। चौथे दिन मेघनाद ने समस्त

सेना को बहुत व्याकुल किया, और लक्ष्मण को मोहित करके रामचंद्र को भी नाग-पाश से बाँध लिया। मेघनाद-वध के पश्चात् पाँचवें दिन स्वयं रावण युद्ध के लिये आया। इस अवसर पर उसके पराक्रम को कुंभकर्ण और मेघनाद के पराक्रम से अधिक दिखलाने के अभिप्राय से इन्होंने पहले विभीषण से यह विचार कराया कि रथी रावण से राम पैदल न लड़ सकेंगे, और फिर इंद्र से भी यही सोच-विचार कराकर रथ भिजवा दिया। कुंभकर्ण और मेघनाद के युद्ध में कभी इसका विचार भी किसी को नहीं हुआ था। केशवदास ने भी कुछ यही समझकर लिखा है—

"चढ़ि हनूमंत पर रामचंद्र तब रावण रोक्यो जाई।"

वाल्मीकि ने रावण की चलाई शक्ति लक्ष्मण के लगने पर द्रोणाचल मँगवाया है। गोस्वामीजी ने यह महत्त्व इस कारण मेघनाद को दिया कि रावण का गुरुत्व वह भली भाँति स्थापित करनेवाले थे ही, अतः मेघनाद को कुछ भी बड़ाई न मिलने पर उसका वीरत्व बिलकुल फीका पड़ जाता। छठे दिन रावण के यज्ञ का विध्वंस किया गया, और वह बड़े क्रोध से युद्ध करने को आया। इसी दिन पहलेपहल राम-रावण-युद्ध हुआ। इस दिन रावण ने एक बार राम के सारथी और दूसरी बार घोड़ों को गिरा दिया, और दोनो बार उन्हें स्वयं राम ही ने उठाया। इससे जान पड़ता है कि युद्ध इतना विकराल हो रहा था कि किसी दूसरे को बीच में आने का साहस नहीं हुआ। प्रथम तीन दिन की लड़ाइयों में बानरों ने राम की ओर से युद्ध आरंभ किया, परंतु अंतिम दिनों में निशाचरों ही की ओर से लड़ाई प्रारंभ हुई। सातवें दिन रावण ने बड़ा प्रचंड युद्ध करके रामचंद्र के अतिरिक्त समस्त सेना को पराजित और मूर्च्छित कर दिया। फिर बड़े ही क्रोध और उद्दंडता के साथ राम-रावण का लोमहर्षण युद्ध प्रारंभ हुआ। इस युद्ध का गोस्वामीजी ने बड़ी

उत्कृष्ट और प्रभावशाली भाषा में, बड़ी अच्छी रीति से, वर्णन किया है। यही दशा रावण के पहले दो दिनों के युद्धों की भी रही थी। अंत को बहुत-से अपशकुन होने के पीछे रावण का वध हुआ। सात दिनों के युद्ध में एक दिन स्फुट, एक दिन कुंभकर्ण से, दो दिन मेघनाद से और तीन दिन रावण से युद्ध हुआ है। कुछ लोगों का मत है कि गोसाईंजी का युद्ध-वर्णन शिथिल है, परंतु हमारी समझ में उसमें शैथिल्य का नाम तक नहीं है; हाँ, इन्होंने युद्ध का बहुत विस्तार नहीं किया है। इनकी युद्ध-प्रणाली भी प्राचीन है एवं शिथिल भी।

भवभूति ने अपने महावीर-चरित्र में लिखा है कि रावण ने धनुष-भंग होने पर परशुराम को राम के विरुद्ध भेजा था, जिसमें कुछ करना न पड़े, और शत्रु-नाश हो जाय। इसी भाँति ताड़का, सुबाहु, मारीच, खर, दूषण, त्रिशिरा, विराध, कबंध आदि सब रावण के ही भेजे हुए गए थे; परंतु तुलसीदास ने ये बातें नहीं लिखी हैं।

एक प्राचीन तामिल रामायण में बालि, सुग्रीव तथा हनुमान् रावण के वैवाहिक संबंधी कहे गए हैं, और कई अन्य विचित्र कथन उसमें हैं।

गोस्वामीजी ने अपने नायक तथा उप-नायकों का शील-गुण आद्योपांत एकरस निभा दिया है। शील का कथन करने में इन महाकवि ने पूरा ध्यान दिया है, और उसमें इन्हें सफलता भी प्राप्त हुई है।

रामचंद्र को गोस्वामीजी ने सब गुणों का आकर माना है। जो कोई देखता था, वह इनके रूप को देखते ही मोह जाता था। विश्वामित्र, परशुराम, जनक, जनकपुर-वासी, गुह, मार्ग के ग्राम-वासी, शूर्पणखा और खर-दूषण तक इनका रूप देखकर मोहित हो गए। यह निरभिमान इतने थे कि विश्वामित्र के पैर तक दबाते थे, और सरल-स्वभाव इतने कि इन्होंने सीता को देखने और उन पर एक प्रकार से

मोहित होने तक का हाल विश्वामित्र से कह दिया। गंभीरता इतनी थी कि विश्वामित्र की आज्ञा होते ही बेधड़क धनुष-भंग के वास्ते खड़े हो गए। इसी प्रकार, परशुराम को देखकर सब लोग डर गए थे, परंतु इनको कुछ भी हर्ष-विषाद नहीं हुआ। ब्राह्मणों को इतना मानते थे कि परशुराम के कई दुर्वाक्य सुनाने पर भी इनको क्रोध न आया। सर्वप्रियता इनके अभिषेक का विचार सुनते ही दशरथ के प्रधान कृपा-पात्र सुमंत के हर्ष गद्गद हो जाने से विदित होती है। यह भरत का सबसे बढ़कर प्यार करते थे। लक्ष्मण को भी इतना चाहते थे कि उनके पीछे नारी-हानि तक सहना इन्हें स्वीकार था। गुरु-महिमा तो इनसे कोई भी सीख सकता है। आत्मत्याग इतना अधिक था कि इन्हें जान पड़ा—

"बिमल बंस यह अनुचित एका; अनुज बिहाइ बड़ेहि अभिषेका।"

प्रजाओं का इन पर इतना प्यार था कि इनके वियोग में उनको जीना भी भारू था। जो कोई देखता था, वही इनको सेवा करने को उद्यत हो जाता था। सच्चे प्रेम के इतने वश थे कि अनार्य-जाति की शबरी के जूठे बेर तक इन्होंने खाए। भक्तवत्सल बहुत बड़े थे—

"सुनु सुरेस रघुनाथ-सुभाऊ; निज अपराध रिसाइँ न काऊ।
जो अपराध भगत कर करई, राम-रोष-पावक सो जरई।"

भरत के आगमन पर यह इतने प्रेम-गद्गद हो गए—

"उठे राम अति प्रेम-अधीरा; कहुँ धनु, कहुँ निखंग, कहुँ तीरा।"

गोस्वामीजी ने इनके शील, संकोच और दयालुता की बार-बार प्रशंसा की है। मुनियों का कष्ट देखकर इन्होंने निशिचर-हीन मही करने की प्रतिज्ञा की। सुग्रीव की विपत्ति देखकर इनकी भुजाएँ फड़क उठीं। यह महाराज बड़े ही दृढ़-प्रतिज्ञ थे, यहाँ तक कि जब कभी इन्हें लंका-विजय में संदेह होता था, तो सीता के न मिलने

का या अपने अपयश का उतना शोक नहीं करते थे, जितना विभीषण को लंका न दे सकने का। आज्ञा-पालक इतने थे कि इन्होंने स्वयं दशरथ की अनिच्छा होने पर भी उनकी आज्ञा का पालन किया। शूर्पणखा का कल्पित विरूपकरण-मात्र इनका एक ऐसा कार्य कथित है, जिसका समर्थन नहीं किया जा सकता। शूद्र मुनि का वध गोस्वामीजी ने नहीं लिखा है, और न किसी मान्य ग्रंथ में उसका कथन है। बालि को ओट से मारने का कारण यह जान पड़ता है कि बड़े शत्रु को छल से भी मारने में दोष नहीं, यह प्रमाणित करना उन्हें अभीष्ट था। कदाचित् उस वानर के भागने का भी भय हो। इस घटना के पूरे कारण प्राचीन ग्रंथों में अकथित हैं। राम का सामर्थ्य मानते हुए यह छल-कार्य पूर्णतया समझ में नहीं आता। रामचंद्र बालि के अनुचित आचरण के कारण उससे क्रुद्ध थे, परंतु उसने ज्यों ही दीन वाक्य कहे कि इनका सब क्रोध तुरंत शांत हो गया। इतने दयालु होने पर भी इन्हें उचित क्रोध आता था—

"सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी ; पावा राज, कोष, पुर, नारी।
जेहि सायक मैं मारा बाली ; तेहि शर हतउँ मूढ़ कहँ काली।"

इनके चित्त में कृतज्ञता इतनी अधिक थी कि इन्होंने हनुमान् से कहा—

"प्रति उपकार करउँ का तोरा ; सनमुख ह्वै न सकत मुख मोरा।"

इनका यह प्रण था—

"कोटि बिप्र अघ लागइ जेही ; आए सरन न त्यागउँ तेही।"

इनकी शूरता, पांडित्य आदि के उदाहरण रामायण-भर में भरे पड़े हैं। गोस्वामीजी रामचद्र को परब्रह्म का अवतार मानते थे।

विभीषण को गोस्वामीजी ने राम का बड़ा भारी भक्त माना है। इन्होंने रावण से बिगड़कर राम का आश्रय ग्रहण किया, और फिर निशाचरों का संहार कराने में पूरा योग दिया। इनका भाई-

भतीजों के मारे जाने की युक्तियाँ बताना हमको अच्छा नहीं लगा। इनको अनार्य-जाति की जातीयता का नितांत ध्यान न था। यह रावण से बिगड़कर जब रामचंद्र के पास चले गए, उसके पीछे तो चाहे इनके बचाव में कुछ कहा भी जा सके, पर सुंदर-कांड में जो हनुमान् को इन्होंने सीता का पता दे दिया, और फिर हनुमान् को मारे जाने से बचाकर उनकी पूँछ जलाने-भर की सलाह दी, उससे यह अवश्य राजद्रोह और विश्वासघात के दोषी हुए। इनका चरित्र भक्ति के अतिरिक्त बड़ा निंद्य है। हमने केशवदास की समालोचना में इनके चरित्र की आलोचना की है। विशेष वहीं देखिए।

रावण लंका का राजा और रामचंद्र का प्रधान शत्रु था। इसने सीताहरण करके भगवान् को अपार दुःख दिया। यह ब्राह्मणों का नहीं, वरन् देवतों का ही शत्रु था। ब्राह्मणों को केवल इसी कारण सताता था कि उनके यज्ञादि न कर सकने से देवगण दीन, हीन होकर आप ही चूर हो जायँगे। रामचंद्र से यह इसी विचार से लड़ा था कि यदि वह परमेश्वर हों, तो उनके हाथ से मरकर समर में अमर-गति प्राप्त करे, और यदि कोई मनुष्य ही हों, तो दोनो भाइयों को जीतकर उनकी स्त्री हर ले। इस पुरुष रत्न में शौर्य, पराक्रम, आत्मनिर्भरता, अभिमान और राजनीतिज्ञता कूट-कूटकर भरी थी। इसका साहस अतुलनीय था। सूझ भी प्रथमश्रेणी की थी, यहाँ तक कि यह बात का समुचित उत्तर तत्काल ही दे देता था। विवाद में इसकी बुद्धि बड़ी ही पैनी थी। राजनीतिज्ञता तो यहाँ तक बढ़ी-चढ़ी थी कि अपने मतलब के लिये मारीच-जैसे छोटे आदमी से भी प्रणाम करके मिला, और उसके गड़बड़ करते ही साम-दाम की बात एकदम किनारे रखकर उस भयंकर अस्त्र का प्रयोग कर बैठा, जिससे मारीच को फिर जिह्वा हिलाने की भी हिम्मत नहीं हुई। रामचंद्र का पत्र इसने बाएँ हाथ से लिया,

और चारो वेद तक का पूर्ण पंडित होने पर भी उसे स्वयं न पढ़ मंत्री से ही बँचवाया। राजनीति के मामले में यह अनुचित-उचित का वैसा अधिक विचार नहीं करता था, और राम-लक्ष्मण की अनुपस्थिति में ही इसने सीता-हरण कर डाला। संभव है, रावण ने यह सोचकर ऐसा किया हो कि उसकी मान-हानि तो शूर्पणखा की नाक-कान कटने से हो ही चुकी थी, अतः वह भी अवश्य शत्रु की मान-हानि कर ले। कारण, यदि शत्रु प्रबल हुआ, तो खुले प्रकार पर ऐसा हो सकना असंभव था।

शूरता इसमें इतनी अधिक थी कि रामचंद्र से युद्ध करते हुए भी इसने उनकी समस्त सेना को कई बार पराजित कर दिया। बाण-विद्या में श्रीराम से और मल्ल-युद्ध में हनुमान् से यह सरबर करता था, यहाँ तक कि इससे लड़ने में अंजनीकुमार का भी दम उखड़ गया, और उनके लिये 'संकट' आ पड़ा। आत्मनिर्भरता का यह हाल था कि यों भी यह 'सहज अशंक' कहलाता था। श्रीराम की चढ़ाई का हाल जानकर भी यह नृत्य देखता रहा, और सब के मर जाने पर बोला—

"निज भुज-बल मैं बैर बढ़ावा; देहौं उतरु जो रिपु चढ़ि आवा।"

यह मरते-मरते भी कहता रहा—

"कहाँ राम, रन हतौं प्रचारी।"

मंदोदरी के रोने-गाने और समझाने-बुझाने को यह इतना तुच्छ समझता था कि उसे सिवा हँसकर टाल देने के इसने कभी ध्यान देने योग्य ही न समझा। मेघनाद और कुंभकर्ण के मरने पर यह अवश्य रोया, पर स्त्रियों को रोते देखते ही रोना बंद कर उन्हें समझाने लगा। अभिमान की मात्रा इसमें इतनी अधिक थी कि अपने मस्तक में ब्रह्मा का यह लेख बाँचकर कि 'मैं मनुष्य के हाथ से मारा जाऊँगा,' यह हँस पड़ा, और ब्रह्मा को इसने सठिया लिया समझ गया। जटायु को देखकर सोचा—

"मम कर-तीरथ छाँड़िहि देहा।"

वैसे ही विभीषण के विषय में यही कहता था—

"करत राज लंका सठ त्यागा; होइहि जव कर कीट अभागा।"

रामचंद्र को सिवा 'तपसी', 'तापस' आदि के कभी और कुछ नहीं कहा। शौर्य, आत्मनिर्भरता और अभिमान के कारण यह कभी किसी की सलाह या उपदेश नहीं मानता था, यहाँ तक इसने मारीच, विभीषण, प्रहस्त, शुक, मंदोदरी, कुंभकर्ण, माल्यवान् एवं कालनेमि-जैसे हितुओं की सलाह पर भी कभी ध्यान नहीं दिया। इसने एक काम बहुत ही बेजा किया कि विभीषण के लात मार दी। वाल्मीकि का वर्णन पढ़ने से विभीषण का और भी अधिक दोष सिद्ध होता है, क्योंकि वहाँ लात इत्यादि का कोई कथन नहीं है, और केवल साधारण बातचीत में विभीषण बिगड़ पड़े। हनुमान् की सुंदर-कांडवाली भारी वक्तृता के उत्तर में रावण ने बड़ा ही चतुरता से कहा—

"मिला हमहि कपि गुरु बड़ ज्ञानी।"

इसके मुकुट गिर पड़ने पर जब सभासद्गण घबराए, तब यह कैसी चतुरता से बोला—

"सिरहु गिरे संतत सुभ जाहीं; मुकुट गिरे कस असगुन ताहीं?"

इसने रामचंद्र की बहुत सी बातें सुन यही कहा—

"बैर करत तब नहि डरे, अब लागत प्रिय प्रान।"

निदान तुलसीदास रावण को, राम का बैरी होने के कारण, जा-बेजा तो सदा ही कहा करते थे, पर इसका शील-गुण इन्होंने बहुत ही अच्छा निबाहा है।

शूर्पणखा का चरित्र ऐसा बुरा न था, जैसा साधारण लोग समझते हैं। वह रामचंद्र से व्यभिचार करने नहीं गई थी, वरन् नियम-पूर्वक विवाह चाहती थी। अपना विधवा होना प्रकट न करना उसका आदिम अपराध था। लक्ष्मण से भी विवाह करने पर झट से राज़ी हो जाना कुछ अनुचित कहा जा सकता है, किंतु वह भी एक

शूर और सुपात्र थे, और जब इनके बड़े भाई ने उसका विचार मानकर इसे लक्ष्मण के पास भेजा, तब शूर्पणखा का मान जाना अनुचित भी न था। इसके साथ भगवान् का व्यवहार बहुत योग्य नहीं कहा जा सकता है। कुल मिलाकर उसी का अपमान हुआ, सो भी अनुचित। वैवाहिक संबंध में स्त्री-पुरुष दोनो की ओर से अनुचित हठ हुआ ही करता है। सीता को खाने दौड़ना इसका अनौचित्य था, किंतु नाक-कान काटे विना ही यदि वह भगा दी जाती, तो उचित होता। भारी अपमान बेजा था, विशेषतया ऐसी कुलवती का, जो शास्त्रीत्या विवाह चाहती थी। विधवापन में कभी उसका अनुचित व्यवहार नहीं लिखा हुआ है।

मेघनाद में अद्वितीय पितृभक्ति और शूरता, ये प्रधान गुण थे। रावण ने इससे जब जो कुछ भला-बुरा करने को कहा, इसने विना आगा-पीछा सोचे वैसा ही किया। और सबने तो रावण को रामचंद्र से न लड़ने के लिये समझाया, पर इसने ऐसा कभी विचारा तक नहीं। तभी तो रावण इसके मरने पर यही कहकर विलाप करने लगा—

"हा सुत! संतत आज्ञाकारी।"

यह इंद्र तक को जीत चुका था, जिससे रावण को इसका बड़ा भरोसा था। सुंदर-कांड में हनुमान् की बड़ी बहादुरी की बातें सुनकर भी रावण जानता था कि मेघनाद को जो आज्ञा दी जायगी, उसे वह पूरी ही करेगा। इसी से उसने कह दिया था—

"मारेसि जनि सुत, बाँधेसि ताही।"

कुंभकर्ण के मरने पर जब रावण विकल हुआ, तब भी पितृभक्त मेघनाद ने यही कहकर समझाया—

"देखेहु काल्हि मोरि मनुसाई।"

इसका शील-गुण बहुत ही निर्दोष दिखलाया गया है।

गोस्वामीजी ने इंद्र तक देवतों को मनुष्यों से कुछ ही बड़ा और

ऋषि-मुनियों से बहुत कम माना है। नारद ने जब काम को जीतने का हाल इंद्र की सभा में कहा, तब नारद के इस महत्त्व पर सब देवतों को बड़ा आश्चर्य हुआ। देवता बड़े स्वार्थी और कभी-कभी कपटी भी हो जाते हैं। उनको राक्षसों से इतना भय था कि यद्यपि वे राम को परमेश्वर जानते थे, तथापि निशाचरों के युद्ध में उन्हें राम-पराजय का भय उपस्थित हो जाता था; यहाँ तक कि वे दो-एक बार मारे भय के भागे, और ऋषि-मुनि ऐसे अवसरों पर भी स्थिर रहे। यथा—

"देव, दनुज, नर, किन्नर, ब्याला; प्रेत, पिसाच, भूत, बैताला।
तिनकी दसा न कह्यों बखानी; सदा काम के चेरे जानी।
सिद्ध, बिरक्त, महामुनि, जोगी; तेऽपि काम-बस भए बियोगी।"

* * *

"सकल कहहिं कब होइहि काली; बिघन मनावहिं देव कुचाली।
ऊँच निवास, नीचि करतूती; सकहिं न देखि पराइ बिभूती।
बार-बार गहि चरन सकोची; चली बिचारि बिबुध-मति पोची।"

* * *

"कपट-कुचालि-सीवँ सुर-राजू; पर अकाज प्रिय आपन काजू।
काक-समान पाकरिपु-रीती; छली, मलीन, न कतहुँ प्रतीती।
लखि, हँसि हिय, कह कृपानिधानू; सरिस स्वान मघवा निज बानू।"

इन वर्णनों को वेद की वंदनाओं से मिलाने पर कैसा आश्चर्य होता है? वास्तव में हिंदू-समाज भगवान् वेद को भूल चुका है, नहीं तो गोस्वामीजी-सा प्रतिनिधि कवि ऐसे कथन कैसे करता?

गोस्वामीजी अन्य सभी देवतों का पूजन केवल इसी प्रयोजन से करते थे कि उनके सहारे श्रीराम की भक्ति प्राप्त और दृढ़ हो,

यहाँ तक कि शिव की भी वंदना इन्होंने कभी किसी अन्य कारण से नहीं की। यथा—

"भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ;
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम्।"
"सिव-सेवा कर फल सुत सोई; अबिचल भक्ति राम-पद होई।"

विनय-पत्रिका में गणेश, सूर्य, शिव और अन्य सभी देवतों की स्तुति करने में गोस्वामीजी केवल राम-भक्ति का वर माँगते थे, और कुछ नहीं।

तुलसीदास राम-भक्त का यह एक लक्षण मानते थे—

"बिन छल बिस्वनाथ-पद नेहू।"

इसके अनेक उदाहरण हैं।

बाल-कांड के प्रारंभ में कवि ने महादेव की इतनी बड़ी कथा इस कारण से लिखी कि श्रोता की राम-कथा सुनने की पात्रता विदित हो जाय। यथा—

"प्रथम कह्यों मैं सिव-चरित, बूझा मरम तुम्हार ;
सुचि सेवक तुम राम के, रहित समस्त बिकार।"

इनका यह विचार था कि—

"पूजनीय, प्रिय परम जहाँ ते ; मानिय सकल राम के नाते।"

इसी कारण यह शिव, भरत, कौशल्या, दशरथ, हनुमान् इत्यादि को इतना मानते थे, और, क्या कहें, सीता भी इसके परे न जा सकीं—

"सुमिरत रामहिं तजहिं जन, तिनु सम विषय बिलासु ;
राम-प्रिया, जग-जननि सिय, कछु न आचरज तासु।"

देवतों में यह शिव को राम का सबसे बड़ा भक्त मानते हैं, और इसी से उन्हें सबसे बड़ा देवता कहते हैं, यहाँ तक कि विष्णु से भी बढ़ा दिया है। जिस समय सब देवता विष्णु के साथ

शिव से ब्याह करने की प्रार्थना करने आए, तब शिव ने उनको अन्य देवतों से पृथक् भी न माना। वह यही बोले—

"कहहु अमर, आयहु केहि हेतू ?"

फिर विष्णु को उनसे बात करने तक की हिम्मत न हुई, और सबकी ओर से ब्रह्मा ने कहा कि देवगण शिव का विवाह देखने को उत्सुक थे। इस स्थान पर विष्णु शिव से बहुत ही छोटे दिखलाए गए हैं। इसके पहले परब्रह्म श्रीराम शिव को विवाह करने का आदेश कर गए थे, और उनसे शिव ने कहा था—

"नाथ-बचन पुनि मेटि न जाहीं।"

और—

"सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा ; परम धरम यह नाथ हमारा।"

इसी से तो ब्रह्मा, विष्णु और अन्य देवतों की बिनती सुनकर महादेव ने—

"× × × समुझि प्रभु बानी ; ऐसोइ होउ कहा सुख मानी।"

तुलसीदास राम और विष्णु में इतना बड़ा अंतर समझते थे कि शिव राम के दास थे, और विष्णु भी शिव के वैसे ही दास थे। विष्णु अर्थात् हरि और शिववाला अंतर विनय-पत्रिका में यों दिखलाया गया है—

"जोग कोटि करि जो गति हरि सों मुनि माँगत सकुचाहीं ;
बेद-बिदित तेहि पद पुरारि-पुर कीट, पतंग समाहीं।"

एवं—

"सिद्ध-सनकादि-योगेंद्र-वृंदारका-विष्णु-विधि-वंद्य-चरणारविंदम्।"

यह शिव हैं। इधर राम का यह हाल है कि—

"जो संपति शिव रावनहिं दीन्हि दिए दस माथ ;
सो संपदा बिभीषनहिं सकुचि दीन्हि रघुनाथ।"

शिव, काकभुशुंडि एवं गोस्वामीजी के प्रभु और कोई नहीं, 'दशरथ-अजिर-विहारी' राम ही थे। यथा—

"पुरुष प्रसिद्ध प्रकास-निधि, प्रकट परावर नाथ :
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायउ माथ।"

निर्गुण और सगुण ब्रह्म। गोस्वामीजी सगुण ब्रह्म के उपासक थे। इनका मत था कि निर्गुण ब्रह्म ध्यान-गम्य नहीं है, और सगुण ब्रह्म का ध्यान करना सहज है। जितने भक्त महानुभावों का वर्णन इन्होंने किया है, प्रायः उन सभी को सगुणोपासक ही रक्खा है। यथा—शिव, काकभुशुंडि, शरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि। भगवान् वेद को इन्होंने सगुणवादी माना है। निर्गुण-सगुण का कुछ सविस्तर वर्णन इस ग्रंथ में कबीरदासवाले लेख में आएगा। वेदों में अवतार का कथन तो है नहीं, किंतु परमेश्वर का है। इनके मत से सगुणोपासक मोक्ष नहीं चाहते, और न ईश्वर में लीन होते हैं—

"ताते मुनि हरि-लीन न भयऊ; प्रथमहिं राम-भगति बर लयऊ।"

"वेदा ऊचुः—

जे ब्रह्म, अज, अद्वैत, अनुभव-गम्य मन पर ध्यावहीं ;
ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं।"

"सगुन उपासक परम हित, निरत नीति दृढ़ नेम,
ते नर प्रान समान मोहिं, जिनके द्विज-पद-प्रेम।"

गोस्वामीजी ने रामचंद्र को परब्रह्म ज्योतिःस्वरूप माना है। उनको ब्रह्मा, विष्णु, महेश इत्यादि का स्रष्टा और शासनकर्ता कहा है, तथा सर्वव्यापी, अनीह, अनाम, अरूप परब्रह्म का अवतार वर्णन किया है। इन्होंने सती तथा काकभुशुंडि के मोह में ब्रह्मा, विष्णु, महेश इत्यादि के अनेक रूप वर्णन किए हैं, परंतु राम का रूप कहीं भी दूसरा नहीं कहा। इन्होंने जगत् को प्रकाश्य और राम को जगत् का प्रकाशक, अनीह, अनंत, अज और अद्वैत माना है, परंतु परब्रह्म

का रूप इन्होंने वही वर्णन किया है, जो विष्णु का है (मनु और शतरूपा रानी की कथा देखिए)। इसी प्रकार सीताजी को इन्होंने आदि-शक्ति का अवतार माना है। राम और सीता के इन सब गुणों को इन्होंने कई स्थानों पर कहा है; परंतु फिर भी इस बात पर ज़ोर देते गए हैं कि वह दशरथ-अजिर-विहारी राम का वर्णन कर रहे हैं। इन सब बातों के होते हुए भी इन्होंने कहीं-कहीं राम को विष्णु और सीता को लक्ष्मी का अवतार भी कह दिया है—

"अति हरख मन, तन पुलक, लोचन सजल पुनि-पुनि कह रमा।"
"नख-निर्गता, सुरबंदिता, त्रयलोक-पावनि सुरसरी।"

इस स्थान पर कवि ने सीता-राम को लक्ष्मी-नारायण माना है। नारद-मोह के संबंध में भी इन्हें ऐसा ही भ्रम हो गया था। प्रायः शेष स्थानों पर राम तथा सीता को परब्रह्म और आदि-शक्ति माना है—

"आदि सकति, जेहि जग उपजाया; सो अवतरिहि मोरि यह माया।"
"उमा, रमा, ब्रह्मादि बंदिता; जगदंबा, संतत अनिंदिता।"
"एक, अनीह, अरूप, अनामा; अज, सच्चिदानंद, परधामा।
व्यापक, बिस्व-रूप भगवाना; तेइ धरि देह चरित कृत नाना।"
"आदि, अंत कोउ जासु न पावा; मति अनुमान निगम अस गावा।
बिनु पग चलइ, सुनइ बिनु काना; कर बिनु करम करइ बिधि नाना।
आनन-रहित सकल रस-भोगी; बिनु बानी बकता, बड़ जोगी।
तनु बिनु परस, नयन बिनु देखा; गहइ घ्रान बिनु बास असेखा।"
"जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान;
सोइ दसरथ-सुत भगत-हित, कोशल-पति भगवान।"
"जगत प्रकास्य, प्रकासक रामू; मायाधीस, ज्ञान-गुन-धामू।
संभु, बिरंचि, विष्णु भगवाना; उपजहिं जासु अंस ते नाना।"
"ऐसोउ प्रभु सेवक-बस अहई; भगत-हेतु लीला-तनु गहई।"
"मुनि सेवक सुर-तरु सुर-धेनू, बिधि-हरि-हर-बंदित-पद-रेनू।"

"सारद कोटि अमित चतुराई; बिधि सत-कोटि अमित निपुनाई।
विष्णु कोटि सम पालन-करता; रुद्र कोटि-सत सम संहरता।
निरवधि, निरूपम राम सम नहिं आन निगमागम कहैं :
जिमि कोटि-सत खद्योत रवि कहँ कहत अति लघुता लहैं।"

रामचंद्र-विषयक इनके बहुत ऊँचे विचार थे ही, सो जब उनके विषय में यह कोई साधारण मनुष्यों के समान घटना का वर्णन करते थे, तब दो-एक सिफ़ारिशी बातें अवश्य लिख देते थे। ऐसे छंद रामायण में स्थान-स्थान पर भरे पड़े हैं—

"जाकी सहज स्वास स्रुति चारी; सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी।"
"लव-निमेष महँ भुवन-निकाया; रचइ जासु अनुसासन माया।"
"भगत-हेतु सोइ दीनदयाला; चितवत चकित धनुष मख-साला।"
"जासु त्रास डर कहँ डर होई; भजन-प्रभाव देखावत सोई।"
"सुमिरत जाहि मिटइ भव-भारू; तेहि स्रम यह लौकिक ब्यवहारू।"
"निगम नेति सिव ध्यान न पावा, माया-मृग पीछे सोइ धावा।"

अपने यहाँ अवतार का विचार बहुत पीछे उठा है। ऋग्वेद में शक्ति केवल ईश्वर में है, अन्य देवतों में नहीं। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में शिव ईश्वर हैं। उपनिषदों में भी ऐसा ही है, किंतु कहीं-कहीं विष्णु के रूप नारायण ईश्वर के पुत्र या ईश्वर हैं। उपनिषत् निर्गुण ब्रह्म को ठीक तथा सगुण को अशुद्ध मानते हैं। अनंतर चार्वाक्, कपिल, जैमिन और गौतम बुद्ध की शिक्षा से निर्गुण के साथ ही ईश्वरवाद भी लुप्त होने लगा। तब भगवान् बादरायण व्यास ने भगवद्गीता द्वारा प्रतीकोपासना के सहारे पहलेपहल सगुणवाद तथा वैष्णव-अवतार का प्रतिपादन किया।

गीता के पूर्व शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति मत्स्य, कच्छ और वराह थे। यही कथन विष्णु-पुराण का है। तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्रजापति वराह थे। शतपथ ब्राह्मण और मनु में ब्रह्मा

नारायण हैं। वाल्मीकीय रामायण और लिंगपुराण में ब्रह्मा वराह हैं। विष्णु ऋग्वेद में इंद्र से कम हैं। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में शिव की उन्नति हुई, किंतु विष्णु की विशेष नहीं। उपनिषदों में विष्णु देवतों में तो सर्वोच्च हुए, किंतु, पूर्णतया ईश्वर नहीं। शतपथ ब्राह्मण में वामन लेटे-लेटे सारी पृथ्वी पर फैलकर उसे जीतते हैं, डगों से नहीं। मैत्रेय उपनिषत् में भोजन विष्णु का रूप है। कठोपनिषत् में मानुष उन्नति का चरमोत्कर्ष विष्णु का परमपद पाना है। परमपद विष्णु का ऋग्वेद में भी है। शतपथ में नारायण परमात्मा से उत्पन्न हैं। तैत्तिरीय आरण्यक में नारायण परमात्मा हैं। महाभारत में वे पंचरात्र का मत निकालते हैं, जिसमें वासुदेव की अवतार सी महिमा है। बौद्धमत-प्रसर के पीछे हमारे यहाँ गीता में पहले-पहल श्रीकृष्ण विष्णु के अवतार कहे गए। यह प्रायः पाँचवीं शताब्दी संवत् पूर्व की बात है। इससे प्रायः सौ वर्ष पहले या पीछे पाणिनि वासुदेव को पूज्य देवता मानते हैं। अनंतर पौराणिक ग्रंथों में राम, कृष्ण आदि अवतार हुए। अवतार का विचार सबसे पहले कृष्ण से चला, और उन्हीं का पूजन हुआ। वाल्मीकीय रामायण के प्राचीन भाग में रामचंद्र अवतारी नहीं हैं, किंतु नवीन में हैं, जहाँ लक्ष्मणादि भी अवतार हैं। यह व्यूह-पूजन है, जिसका सबसे पुराना कथन चौथी शताब्दी संवत् पूर्व के बौद्ध-ग्रंथ निद्देश में है। इसके पीछे श्रीकृष्ण-पूजन के तो अनेक ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं, किंतु अनिश्चित कालवाले कथनों से इतर राम का पूजन नहीं मिलता। अमरकोष तथा पतंजलि में भी राम-नाम नहीं है। इधर आकर सं० १०७० का जैन-ग्रंथ धर्म-परीक्षा राम तथा गौतम बुद्ध को अवतार कहता है। आगे चलकर माधवाचार्य ने सीताराम की मूर्ति का पूजन किया, ऐसा लिखा है। यह सं० १३२१ की घटना है। कालिदास चौथी-पाँचवीं शताब्दी के समझे जाते हैं। आपने राम

को अवतार माना है। तेरहवीं शताब्दी के दाक्षिणात्य मंत्री हेमाद्रि ने व्रत-खंड में रामनवमी का व्रत लिखा है। हरिवंश, महाभारत, श्रीभागवत, वायु-पुराण आदि में राम अवतार हैं, किंतु पौराणिक ग्रंथ गुप्त-काल म नवसंपादन के साथ पूर्ण किए गए, जिससे उनका कोई विशेष कथन गुप्त-काल से पुराना नहीं माना जाता है। इनमें भी उनका पूजन नहीं है। इलोरा की मूर्तियाँ तीसरी से नवीं शताब्दी तक की हैं। उनमें रावण के चित्र हैं। खजराहो और जगन्नाथजी के मंदिरों में भी राम तथा दशावतार की पाषाण-मूर्तियाँ हैं। इनका समय दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक का है। ज़िला ललितपुर के एक गुप्तकालीन मंदिर में रामअवतारी हैं। वाल्मीकीय रामायण पाँचवीं शताब्दी संवत् पूर्व का ग्रंथ सबसे पुराना राम का कथन करता है। बौद्ध जातकों में तीन रामों के वर्णन हैं। ऋग्वेद में एक यज्ञकर्ता राम लिखे हैं, किंतु रावणारि नहीं। अतः प्रकट है कि श्रीकृष्ण पाँचवीं शताब्दी संवत् पूर्व से अवतार माने गए तथा राम संवत् की चौथी-पाँचवीं शताब्दी से।

ज्ञान, भक्ति। गोस्वामीजी ने भक्ति का दर्जा सबसे ऊँचा रक्खा है। इस विषय पर रामायण-भर में आपने स्थान-स्थान पर बहुत कुछ लिखा है। आरण्य और उत्तर-कांडों में तो अपना मत प्रत्यक्ष प्रकट रूप से कहा है। यह महापुरुष अनन्य भक्त थे। भगवान् व्यास ने श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञान-भक्ति के विषय में बहुत कुछ कहा है। गीता में राम शस्त्रभृत् का कथन भी है। यह वर्णन परशुराम, रामचंद्र या बलराम में से किसी एक का होने से निश्चय-पूर्वक राम से संबद्ध नहीं माना जा सकता। व्यासदेव एवं हिंदू-दर्शन-शास्त्रों का मत है कि मोक्ष-पद बिना ज्ञान के नहीं मिल सकता, और भक्ति ज्ञान दृढ़ करने का एक भारी साधन है। गोस्वामीजी ने इस मत को पूर्ण रूप से खुले-खुले नहीं ग्रहण किया, यद्यपि वास्तव में इसे माना अवश्य है।

यह कहते हैं, ज्ञान से केवल मोक्ष-पदवी प्राप्त हो सकती है, पर ज्ञान का होना इतना कठिन है कि उसका मिलना वस्तुतः असंभव है। वह केवल घुणाक्षर-न्याय से मिल सकता है, अथच यदि कहीं मिल भी गया, तो विना भक्ति के स्थिर नहीं रह सकता। केवल भक्ति से भी मोक्ष मिलती है, परंतु भक्ति मोक्ष का साधन-मात्र नहीं है, वरन्—

"राम-भगति सोइ मुकुति गोसाईं ; अनइच्छित आवै बरियाईं।
भगति करत बिनु जतन प्रयासा ; संसृति-मूल अबिद्या नासा।
भोजन करिय तृप्ति हित लागी; जिमि सो असन पचवइ जठरागी।
असि हरि-भगति सुगम सुखदाई; को अस मूढ़, न जाहि सुहाई?"

कुछ लोग गोस्वामीजी को अद्वैतवादी समझते हैं। यही हमें भी समझ पड़ता है। कुछ महाशय रामानंदी होने से इन्हें विशिष्टाद्वैतवादी भी मानते हैं। इस विषय पर बहुत विद्वानों ने अन्य ग्रंथों में प्रचुर परिश्रम करके गोस्वामीजी का अद्वैतवादी होना सिद्ध कर दिया है। यहाँ इस पर विशेष विस्तार करने से ग्रंथ का आकार बढ़ जाना संभव है, अतः सूक्ष्मतया गोस्वामीजी का मत लिखा जाता है।

नका मत है कि क्रोध विना द्वैतभाव के हो नहीं सकता, क्योंकि जब जीव-मात्र ईश्वरमय अर्थात् एक है, तो क्रोध किस पर करे? और, जब द्वैत-मत हुआ, तो अज्ञान आ ही गया। जब मनुष्य की द्वैत-बुद्धि छूट जाती है, तब वह परमेश्वर के बराबर हो जाता है। ऐसा होना वस्तुतः असंभव है, अतः ज्ञानी होना भी असंभव है।

"क्रोध कि द्वैतक बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान :
माया-बस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान।"

ज्ञान पुरुष-रूपी है, और भक्ति एवं माया स्त्री-रूपिणी। स्त्री और पुरुष में शीघ्र प्रेम हो जाता है, परंतु स्त्री के रूप पर स्त्री

नहीं रीझती। अतः ज्ञान पर माया का प्रभाव शीघ्र हो जाता है, और भक्ति पर नहीं होता। फिर ईश्वर भक्ति के अनुकूल है, अतः भक्ति से माया डरती है और उसके पास नहीं आती। इधर दैववशात् पूरा परिश्रम सध जाने और ज्ञान-दीपक के जल जाने पर भी स्त्री-रूपिणी माया अंचल-वायु से उस दीपक को बुझा देती है। जब मनुष्य पूरा विरक्त हो जाय, तभी उसे भक्त समझना चाहिए। गोस्वामीजी का यह मत समझ पड़ता है कि पूर्ण भक्ति प्राप्त हो जाने पर अविद्या-जनित अंधकार दूर हो जाता है, भक्त को विना चाहे हुए पूर्ण ज्ञान एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है, और भक्ति द्वारा इतनी दृढ़ता हो जाती है कि माया उसके पास नहीं फटक सकती। उधर भक्ति-हीन ज्ञान एक तो हो ही नहीं सकता, और यदि होता भी है, तो इतना अस्थिर रहता है कि वह थोड़े ही में माया के फंदे में पड़ जाता है। अतः ज्ञान बड़ा ही कठिन और दुष्प्राप्य है, एवं भक्ति बहुत ही सुगमता से प्राप्त हो सकती है। रामचंद्र कहते हैं, भक्त और ज्ञानी, दोनो मेरे पुत्र के समान हैं, परंतु मैं ज्ञानी को प्रौढ़ और भक्त को बालक के समान समझता हूँ। अतः जिस प्रकार माता छोटे बालक की सँभाल रखती है, वैसे ही मैं भक्त की हर समय रक्षा किया करता हूँ। आपके पूर्ववर्ती शंकराचार्य तथा रामानुजाचार्य ने तर्कवाद द्वारा बौद्ध और जैन पंडितों का पराभव करके लोक में पौराणिक मत की भी महत्ता स्थापित की। समय पर जब इस मत का कोई तर्क से सामना करनेवाला न रहा, तब परमेश्वर और नारायण के उच्च भावों का कथन-बाहुल्य छोड़कर गोस्वामीजी ने अधिक लोक-प्रिय भक्तिवाद चलाया, अथच तर्क-वाद एवं ज्ञानवाद को कठिन बतलाकर भक्तिवाद के आगे उसकी हेयता दिखलाई। इतना सब होते हुए भी आपने यह भी कह

दिया है कि सगुण-अवतारवाद पूर्णतया तर्कवाद से समर्थित नहीं होता, क्योंकि इसके लिये विश्वासात्मिका भक्ति की भी आवश्यकता है। आपने बल-पूर्वक मुसलमानी धार्मिक दबाव से आक्रांत हिंदू-समाज का संगठन भक्ति के दृढ़ उपदेश से किया। भक्ति सगुणोपासना से प्राप्त होती है। उसके नाम-जप और चरित्र-गान—ये दो मुख्य साधन हैं, जो सत्संग से प्राप्त हो सकते हैं। इसी कारण नामोपासना और ईश्वर-गुण-गान से परमेश्वर की प्रसन्नता होती है। ईश्वर की प्रसन्नता प्राप्त करनी ही भक्त की अंतिम इच्छा है, यद्यपि ऐसा करने में उसे ज्ञान और मोक्ष विना चाहे ही प्राप्त हो जाते हैं। गोस्वामीजी ने नवधा भक्ति कही है। यथा—(१) संतों का संग, (२) राम-कथा-श्रवण, (३) गुरु-पद-सेवा, (४) निष्कपट होकर राम-गुण-गान, (५) राम पर दृढ़ विश्वास रखकर नाम का जप, (६) दम, शील, विरति, सज्जनानुमोदित धर्म इत्यादि, (७) जगत् को राममय देखना, और राम से संतों को अधिक मानना (इसका प्रथमार्द्ध अनन्य भक्ति है यथा—"सो अनन्य असि जाहि की, मति न टरै हनुमंत; मैं सेवक सचराचर रूप-रासि भगवंत।"), (८) संतोष करना, और पर-दोष न देखना, (९) छल-हीन होकर, हर्ष-विचार छोड़ राम का भरोसा रखना। इनमें से जिसके एक भी हो, वह ईश्वर का प्रिय है। गोस्वामीजी के हृदय में नवधा भक्ति थी।

गोस्वामीजी ने लिखा है कि राम-भक्त चार प्रकार के होते हैं, और चारो को नाम का आधार है। "आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ" (गीता)। इनमें ज्ञानी परमेश्वर को विशेष प्यारा है। गोस्वामीजी ने भक्ति-हीन ज्ञान का पद भक्ति से बहुत नीचा रक्खा है, और यह भी लिखा है कि भक्ति बहुत कम मनुष्यों में है। अतः इनकी रुचिवाले मनुष्यों ने और स्वयं इन्होंने जहाँ कहीं वरदान माँगा, वहाँ भक्ति ही माँगी

है। इन्होंने श्रेष्ठ मनुष्यों की इस प्रकार श्रेणियाँ बाँधी हैं, जिनका माहात्म्य उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है—धर्म-व्रत-धारी, विषय-विरक्त, सम्यक् ज्ञानी, जीवन्मुक्त, ब्रह्म-निरत, विज्ञानी और भक्त।

"जे ज्ञान-मान-विमत्त तव भव-हरनि भक्ति न आदरी ;
ते पाय सुर-दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।"
"सरुज सरीर बादि बहु भोगा ; बिन हरि-भजन बादि जप जोगा।
सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञाना, करनधार बिनु जिमि जलजाना।
"रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निरबान ;
ज्ञानवंत अपि सोपि नर, पसु बिनु पूँछ, बिषान।"
"भगति-हीन गुन सुख सब ऐसे ; लवन बिना बहु बिंजन जैसे।"

उपर्युक्त कारणों से यह महाशय राम-नाम को रामचंद्र से भी अधिक मानते हैं। यथा—

"करहुँ कहाँ लगि नाम-बड़ाई ; राम न सकहिँ नाम-गुन गाई।"

गोस्वामीजी की भक्ति उनके रचित ग्रंथों में प्रत्येक स्थान पर झलकती है। भले मनुष्यों का तो कहना ही क्या, वह दुष्ट राक्षसों तक को भी भक्त ही कहते हैं, और यह बात प्रायः प्रत्येक के मरते समय कह देते हैं कि—"मरती बार कपट सब त्यागा।" यही दशा मारीच, कालनेमि, मेघनाद, कुंभकर्ण, रावण इत्यादि सभी के विषय में देख पड़ती है, यद्यपि मारीच ने मरते समय भी उच्च-स्वर से लक्ष्मण का नाम लेकर धोखा ही दिया, और उसी धोखे में आकर सीता ने लक्ष्मण को सहठ राम के पास भेजा, और वह स्वयं रावण के फंदे में पड़ीं।

सत्संग के विना भक्ति, विवेक और मोह-हानि नहीं हो सकती। नव प्रकार की भक्तियों में एक सत्संग भी है, परंतु राम-कृपा के विना सत्संग भी नहीं प्राप्त हो सकता। सत्संग से कौन बड़ा नहीं होता, और कुसंग से कौन नहीं बिगड़ता ?—

"को न कुसंगति पाइ नसावा ? केहि न सुसंग बड़प्पन पावा ?
भगति सुतंत्र सकल सुख सानी , बिनु सत्संग न पावहिं प्रानी।
बरु भल बास नरक कर ताता ; दुष्ट-संग जनि देइ बिधाता।
राम-कथा के ते अधिकारी ; जिनके सतसंगति अति प्यारी।
तात सरग-अपबरग-सुख धरहु तुला यक अंग :
तुलइ न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव-सतसंग।
बिनु सतसंग न हरि-कृपा, तेहि बिनु मोह न भाग :
मोह गए बिनु राम-पद, होइ न दृढ़ अनुराग।"

गोस्वामीजी ने स्त्रियों की सब कहीं निंदा सामान्य रूप में की है। यद्यपि उन्होंने विशेष रूप से सीता, कौशल्या इत्यादि की स्तुति भी की है, तथापि वह स्तुति भी बहुधा रामचंद्र से संबंध रहने के कारण की गई है। गोस्वामीजी ने स्त्रियों को सहज जड़, अपावन, अनधिकारिणी, अज्ञ आदि कहकर नारी-चरित्र को गंभीर समुद्र कहा है, और लिखा है कि स्वतंत्र होकर ये बिगड़ जाती हैं।

"उत्तम के अस बस मन माहीं : सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं।
मध्यम पर-पति देखहि कैसे : भ्राता, पिता, पुत्र निज जैसे।
धरम बिचारि समुझि कुल रहहीं : ते निकृष्ट तिय श्रुति अस कहहीं।
बिनु अवसर भय ते रह जोई ; जानेहु अधम नारि जग सोई।"

इन्होंने स्त्री-संबंधी जाँच की कसौटी बड़ी कड़ी रक्खी है। इस से भी विदित होता है कि यह उनसे असंतुष्ट रहते थे।

"भ्राता, पिता, पुत्र उरगारी ; पुरुष मनोहर निरखति नारी।"
"राखिय नारि जदपि उर माहीं ; शास्त्र नृपति जुवती बस नाहीं।"
"पाप उलूक निकर सुखकारी ; नारि निबिड़ रजनी अँधियारी।"
"अवगुन-मूल, सूल-प्रद, प्रमदा सब दुख-खानि।"
"ढोल, गवाँर, सूद्र, पसु, नारी : इन्हैं ताड़ना को अधिकारी।
नारि-सुभाव साँच कवि कहहीं : अवगुन आठ सदा उर रहहीं।

साहस, अनृत, चपलता, माया; भय, अविबेक, असौच, अदाया।
साँचु कहहुँ कबि नारि-सुभाऊ; सब बिधि अगम अगाध दुराऊ।
निज प्रतिबिंब मुकुर गहि जाई; जानि न जाइ नारि-गति भाई।"

"का नहिं पावक जरि सकइ, का न समुद्र समाइ :
का न करै अबला प्रबल, केहि जग काल न खाइ ?"

गोस्वामीजी की माता इनकी बाल्यावस्था में मर गई थीं, और अपनी स्त्री से यह अप्रसन्न हो गए थे। इनके बैरागी होने के कारण उच्च श्रेणी की स्त्रियाँ इनसे नहीं मिलती होंगी, और केवल निम्न श्रेणी की स्त्रियों को यह इधर-उधर देखते होंगे। अतः स्त्रियों के विषय में इनका अनुभव अच्छा न था। यही कारण है कि इन्होंने उनकी निंदा की है। फिर भी हम तो यही कहेंगे कि ऐसे महात्मा और महाकवि को बिना सोचे इतनी प्रचंड निंदा न करनी चाहिए थी। उस काल के बहुतेरे अन्य कविगण भी बहुधा इस महादोष के दोषी हैं। कबीरदास ने भी ऐसा ही लिखा है। स्त्री के पद पर ऐतिहासिक विचार करने से विदित होता है कि भारत में यह उच्च था, किंतु मुसलमानी आगमन से बिगड़ गया। योरप में यह सोलहवीं शताब्दी से बढ़ा।

गोस्वामीजी के मत

(१) तुलसीदास का मत था कि कविता टेढ़ी एवं निंद्य है; पर यदि उसमें राम-कथा गाई जाय, तो सत्संग से वह भी पावन हो जाती है। इसी कारण यह नर-काव्य के विरोधी थे। यथा—

"भगत हेतु बिधि-भवन बिहाई; सुमिरत सारद आवति धाई।
रामचरित-सर बिनु अन्हवाए; सो स्रम जाय न कोटि उपाए।
कीन्हे प्राकृतजन-गुन-गाना; सिर धुनि गिरा लगति पछिताना।
कबि-कोबिद असहृदय बिचारी; गावहिं हरि-गुन कलि-मलहारी।
भनित बिचित्र सुकबि-कृत जोऊ; राम नाम बिन सोह न सोऊ।

भनित भदेस, वस्तु भलि बरनी; राम-कथा मुद-मंगल करनी।"

(२) इनकी दृष्टि इतनी पैनी थी कि कोई बात इनके देखने और मनन करने से नहीं छूटती थी। सास का महादेव के पैरों पर पड़ जाना, पार्वती का बिदा के समय अपनी माता को फिर लिपटकर रोना, कौशल्या के दौड़ाने पर बालक रामचंद्र का, 'ठुमुकि-ठुमुकि' भागना और दूध-भात मुँह में लगाए दशरथ के चौके से 'किलकात' भाग चलना, 'टिट्टिभ खग' का 'उताने' सोना, जुर्रा की 'कुलह' छूटनी, 'पय-फेन' से 'पबि टाँकी' का फूटना, रावण द्वारा विभीषण को 'होइहि जव कर कीट अभागा' कहा जाना, 'नौकारूढ़' मनुष्य को संसार चलता हुआ दिखाई देना, गरुड़ का प्रसन्नता में 'पंख फुलाना' स्त्रियों का दीपक को 'अंचल' से बुझाना इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

(३) यह महानुभाव लोगों का वार्तालाप बड़ी ही उत्तमता से वर्णन करते हैं। भरद्वाज और याज्ञवल्क्य, सप्तर्षि और गौरी (यह वार्ता ऐसी है, जो पुरुषों और स्त्रियों के बीच ही हो सकती है), ब्रह्मा और शिव (विवाह-विषयक), दशरथ और वशिष्ठ (रामाभिषेक-विषयक), कैकेयी और मंथरा, दशरथ और कैकेयी, राम और सुमंत, राम और सीता (वन-गमन-विषयक), भरत और वशिष्ठ, भरत और राम (वन में) इत्यादि के संवाद बहुत ही अच्छे ढंग से लिखे गए हैं। अन्य लोगों की आपस में बात-चीत एवं ऊपर लिखी हुई वार्ताएँ ऐसी अच्छी हैं कि उनकी जोड़ी हिंदी-साहित्य में तो है ही नहीं, संभवतः और किसी भाषा में भी नहीं मिलेगी।

(४) गोस्वामीजी अपने नायकों के गुण दिखलाने के लिये उपनायकों की त्रुटियाँ प्रायः दिखला देते हैं। सती-मोह में लक्ष्मण की अज्ञता, राम-विवाह की श्रेष्ठता के लिये शिव-विवाह की त्रुटियाँ; रामचंद्र की योग्यता और शूरता दिखाने को लक्ष्मण एवं

सब सेना का रावणादि की माया को न समझ सकना इत्यादि इस बात के उदाहरण हैं।

(५) तुलसीदास बहुत बड़े-बड़े एवं बड़े ही सुंदर सांग-रूपक कह सकते थे। इन्होंने बहुत-से परमोत्कृष्ट रूपक कहे हैं। यथा— वंदना में मानस का रूपक, धनुष-यज्ञ में चाप-जहाज एवं राम-सूर्यवाले रूपक (बाल-कांड), कैकेयी का नदीवाला रूपक (अयोध्या-कांड), भरत का नदीवाला रूपक (चित्रकूट पर श्रीराम से मिलने में), वसंत-ऋतु का सेना की चढ़ाईवाला रूपक (आरण्य-कांड), रामचंद्र के गुणों का रथवाला रूपक (लंका-कांड), रावण के युद्ध में सेना का वर्षा-ऋतुवाला रूपक (लंका-कांड), राम-प्रताप का सूर्यवाला रूपक (उत्तर-कांड), ज्ञान-दीपकवाला प्रसिद्ध रूपक एवं विनय-पत्रिका के बहुतेरे रूपक। कहाँ तक लिखें, बहुत रूपक हैं। कहीं-कहीं वाचक आ गया, किंतु हैं वे मुख्यतया रूपक ही।

(६) इन्होंने श्रीरामचंद्र के न-जाने कितने 'नख-शिख' कहे हैं, और वे एक-से-एक बढ़िया हैं।

(७) गोस्वामीजी की उमंग (Enthusiasm) बड़ी ही प्रबल थी। रामचंद्र के विषय में जो कोई भूलकर भी कभी अनुचित बात का संदेह तक कर दे, तो उसको पूर्ण रूप से फटकारे विना यह नहीं मानते थे। पार्वती ने कहीं पूछ दिया कि रामचंद्र परब्रह्म ज्योतिःस्वरूप ही थे, या कोई और ? इतने ही पर शिव ने उन्हें इतना फटकारा कि बस, हद कर दी ! "एक बात नहिं मोहिं सोहानी" इत्यादि देखिए।

केवट द्वारा श्रीराम के चरण धोए जाने में यह क्या ही विमल पड़े—

"अति आनंद उमँग अनुरागा; चरन-सरोज पखारन लागा।"

यदि कोई अन्य व्यक्ति—मित्र हो या शत्रु—श्रीराम से मिलने चलता था, तो भी यह अपनी उमंग में आकर उसे राम-दरश-लालसा-उत्साह में उन्मत्त-सा कर देते थे। यथा—सुतीक्ष्ण, विश्वामित्र, मारीच, विभीषण एवं कुंभकर्ण के उत्साह।

इसी कारण इनका जो मत था, उसे यह बार-बार लिखते थे। जिसकी प्रशंसा करते, उसे सातवें आसमान पर चढ़ा देते थे, और जिसकी निंदा करने लगते, उसे पाताल तक पहुँचा दिए विना न मानते थे। यह बात काव्य के कारण थी।

योगी, यती, तपी, विज्ञानी आदि के विषय में इन्होंने क्या ही ज़ोरों पर लिखा है कि ये सब—

"तरै न बिनु सेए मम स्वामी: राम, नमामि नमामि नमामी।"

मानो श्रीराम "बिला शिरकत ग़ैरे व बिला मुज़ाहिमत दीगरे" केवल इन्हीं के स्वामी थे। ये सब बातें इनकी प्रबल उमंग एवं भक्ति के प्रमाण हैं।

(८) यद्यपि गोस्वामीजी को हँसी भाती न थी, तो भी कहीं-कहीं प्रच्छन्न प्रहसन को इन्होंने जगह दे ही दी है। नारद-मोह-वर्णन में गुप्त हँसी की मात्रा विशेष पाई जाती है। यथा—

"जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार ;
सोइ हम करब, न आन कछु, बचन न मृखा हमार।"

नारद के विषय में हर के गणों ने कहा—

"रीझिहि राज-कुँवरि छबि देखी; इनहिं बरिहि हरि जानि बिसेखी।"

रामचंद्र का बचन केवट से—

"सोइ करउ, जेहि नाव न जाई।"

लक्ष्मण का सूपनखा से कहना—

"प्रभु समरथ कोशलपुर-राजा; जो कछु करइँ उनहिं सबु छाजा।
जो जेहि मत भावै, सो लेहीं: मनि मुख मेलि डारि कपि देहीं।"

सप्तर्षियों ने पार्वती से कहा—

"गिरि-संभव तव देह—"

"बिलग-बिलग ह्वै चलहु सब निज-निज सहित समाज।"

(९) इन महात्मा के सैकड़ों ही पद कहावत के रूप में प्रचलित हो गए हैं। उदाहरण देना व्यर्थ है, क्योंकि थोड़ी भी रामायण पढ़ने से सभी कहीं इसके दस-पाँच प्रमाण मिल सकते हैं।

(१०) गोस्वामीजी ने कई प्रकार की भाषाओं में सफलता-पूर्वक कविता की। प्रथम तो इन्होंने संस्कृत में भी श्लोक बनाए। इनके श्लोक बड़े ही रुचिर हैं, और हिंदी जाननेवाले भी इन्हें अधिकांश समझ सकते हैं। इन श्लोकों में गोस्वामीजी ने विशेषणों का अच्छा प्रयोग किया है। विद्वानों का मत है कि यह संस्कृत के अच्छे ज्ञाता न थे। यह बात विशेषणों के अधिक प्रयोग एवं कुछ स्थानों पर व्याकरण की अशुद्धियाँ आ जाने से ठीक प्रतीत होती है—

"सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्।"

इस पद को थोड़ी-सी संस्कृत जाननेवाला भी बना सकता था। गोस्वामीजी के अधिकांश श्लोक ऐसे ही हैं।

रामचरित-मानस में इन्होंने थोड़े-से छंदों को छोड़कर बैसवाड़ी अवधी भाषा का प्रयोग किया है। यह कथा-प्रासंगिक ग्रंथों की भाषा-सी हो गई है।

इसी का प्रयोग अपने छोटे छंदोंवाले अन्य ग्रंथों में इन्होंने किया है, परंतु कवितावली, हनुमान्-बाहुक एवं संकट-मोचन में व्रज-भाषा का भी प्रयोग कर दिया है। गीतावली-रामायण और कृष्ण-गीतावली में शुद्ध व्रज-भाषा ही काम में लाई गई है। विनय-पत्रिका में उपर्युक्त सभी भाषाओं को लेकर उनमें संस्कृतवत् भाषा का भी मिश्रण कर दिया गया है। इतनी भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषाओं में

ऐसी उत्कृष्ट रचना करनी इन्हीं महाराज का काम था। तभी तो दासजी ने कहा है—

"तुलसी, गंग, दुवौ भए सुकबिन के सरदार ;
इनके काव्यन मैं मिली भाषा बिबिध प्रकार।"

हिंदी-साहित्य में विविध भाषाओं का सफल प्रयोग करनेवाला ऐसा भारी आचार्य दूसरा नहीं हुआ।

(११) स्थान और विषय के अनुसार समुचित शब्दों का प्रयोग तो कोई इन महाकवि से सीख ले। यथा—

"सिवहिं बिलोकि ससंक्यो मारू।"
"रुद्रहिं देखि मदन भय माना ; दुराधर्ष, दुर्गम, भगवाना।"
"बिकसे सरनि बहु कंज, गुंजत पुंज मंजुल मधुकरा।"

इनमें भौंरों की गुंजार शब्दों ही में सुन लीजिए।

सीता-स्वयंवर में—

"सिमिटे सुभट एक-ते-एका।"

इसी प्रकार 'पतियानि', 'हुलकि उठी', 'धुआँ देखि खरदूषन केरा' इत्यादि हैं।

(१२) गोस्वामीजी अनुप्रास को बहुत आदर नहीं देते, अथच उसका स्वल्प प्रयोग ही करते थे। इन्होंने यमक का बहुत कम प्रयोग किया है। इनकी भाषा में बाह्याडंबर नहीं होता था। फिर भी वह बहुत ही सराहनीय है।

(१३) इन्होंने बहुत स्वतंत्रता के साथ सब प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है। फ़ारसी, अरबी, संस्कृत और ठेठ ग्राम्य भाषाओं तक के शब्द इनकी रचना में बहुत-से पाए जाते हैं। ग्राम्य शब्दों का व्यवहार इन्होंने ऐसी योग्यता से किया है कि उन प्रयोगों से इनकी भाषा की रोचकता और भी बढ़ गई है।

(१४) गोस्वामीजी उमंग या हर्ष के समय प्रायः इतर छंद

लिखते थे, परंतु इनके ये छंद बहुधा दोहे-चौपाइयों से शिथिल हैं। कुछ छंद मनोहर भी हैं। जब यह उमंग में आकर छंद लिखते हैं, तो बहुधा उस दोहे या चौपाई का अंतिम शब्द, जिसके पीछे छंद होता है, छंद के आदि में लिख देते हैं। यह बिनती, युद्ध, विवाह, उत्सव आदि की कथा में प्रायः छंद लिखते थे। अयोध्या-कांड में इन बातों का अभाव-सा है, अतः उसमें छंद भी बहुत ही कम हैं। लंका-कांड और बाल-कांड में छंद बहुत हैं। उत्तर-कांड और आरण्य-कांड में भी स्तुति-विषयक छंद विशेषता से हैं।

(१५) महात्मा तुलसीदास-सरीखे महाकवि के गुणों का समुचित वर्णन करना हमारी शिथिल लेखनी और स्वल्प शक्ति से परे है। इनकी रचनाओं के प्रतिपृष्ठ, प्रतिपंक्ति, वरन् प्रतिशब्द में चमत्कार देख पड़ता है।

यों तो जैसे समुद्र में रत्न, मकर और विष, सभी होते हैं, वैसे ही इन महात्मा के काव्य-महासागर में भी दो-चार दोष यदि ढूँढ़ने से कहीं निकल आवें, तो उसमें आश्चर्य ही क्या है? परंतु वास्तव में, इस समय हिंदू-जाति का वास्तविक अवलंब जितना तुलसी-कृत रामायण तथा इनके अन्य ग्रंथ हो रहे हैं, उतना सहारा आकाश-पाताल ढूँढ़ने पर भी और कहीं नहीं मिल सकेगा। साधारण कवियों के गंदे और विषयवासना-पूर्ण काव्य पढ़ने से चाहे अच्छा भले ही क्यों न लगे, परंतु चित्त में विकार उत्पन्न हुए विना नहीं रहता। इधर जितनी देर तक इन महात्मा के ग्रंथ-रत्नों का परिशीलन किया जाता है, उतने समय के लिये पाठक मानो इस संसार की तुच्छ बातों के परे होकर उच्च विचारों, उच्च कर्मों और उच्च अभिलाषाओं का पात्र बन जाता है। ऐसे कवि-कुल-चूड़ामणि पर उक्त प्रकार के लांछन लगाना कृतघ्नता की पराकाष्ठा समझनी चाहिए। एक यह भी बात है कि तुलसीदास

अपने समय के प्रतिनिधि कवि थे, सो हिंदुओं में उस काल जैसे विचार प्रचलित थे, उनकी छाया इनकी रचनाओं में भी स्वाभाविक थी। इनका साहित्य उच्च हिंदू-विचारों का दर्पण है। वास्तव में हिंदू-समाज का पूर्ण संगठन उस काल जैसे विचारों से संभव था, वैसे ही आपने कहे हैं। हिंदू-समाज को आपने जैसा बनाया, वैसा ही वह आज है, इसमें इनका नहीं, वरन् पीछे के सुधारकों का दोष है, जो अपने-अपने समयानुसार समाज को उन्नत न कर सके।

ऊपर लिखा जा चुका है कि गोस्वामीजी की रचना कई प्रकार की हुई है। रामचरित-मानस, जानकी-मंगल, कलि-धर्माधर्म-निरूपण एवं हनुमान्-चालीसा की शैली एक भाँति की है, तथा कवितावली, हनुमान्-बाहुक और संकट-मोचन की दूसरे प्रकार की। राम-गीतावली और कृष्ण-गीतावली की तीसरी ही शैली है। दोहावली और सतसई चौथी रीति पर बनी हैं। विनय-पत्रिका का ढंग एक पाँचवें ही कैंडे का है। भिन्न-भिन्न प्रकार के ग्रंथों में कविता-शैली बराबर बदलती गई है, पर इनकी विशेषता की छाप सब पर दूर से ही दृष्टि-गोचर होती है। इनके जो विचार और सिद्धांत हैं, वे इनके सभी ग्रंथों में, स्पष्ट रूप से, सौ-सौ, पचास-पचास बार दोहरा-दोहराकर, कई प्रकार से, कहे गए हैं। हमको कई ग्रंथों के विषय में, जो इनके रचे प्रसिद्ध हैं, संदेह हुआ करता था कि कदाचित् उन्हें किसी अन्य कवि अथवा कवियों ने इनके नाम से बना डाला हो। इस कारण हमने अत्यंत प्रामाणिक ग्रंथों को छोड़ और सभी पुस्तकों की जाँच बड़ी ही कड़ाई से की। अंत में हमें अधिकांश के विषय में पूर्ण विश्वास हो गया कि वे अवश्य इन्हीं महात्मा तुलसीदास के रचे हुए हैं। यह विषय ब्योरेवार अन्यत्र लिखा जा चुका है।

अधिक क्या कहें, हमारी स्वल्प बुद्धि के अनुसार महात्मा

तुलसीदास से बढ़कर कोई कवि, हमारी जानकारी में, कभी, किसी भी भाषा में, संसार-भर में, कहीं नहीं हुआ। इनमें एक तो कोई दोष है ही नहीं, और जो दो-चार हैं भी, वे एक प्रकार से गुण ही कहे जा सकते हैं। जब तक हिंदू-जाति पृथ्वी-मंडल पर वर्तमान है, तब तक महात्मा तुलसीदास का नाम सदा अमर रहेगा। इनकी रचना तथा भक्ति से चरित्र की शुद्धि जितनी हो सकती है, उतनी अन्य कवि की कविता से होनी कठिन है। गोस्वामीजी की रचना के उदाहरण आगे दिए जाते हैं—

दोहावली

सपने होय भिखारि नृप, रंक नाकपति होय ;
जागे हानि न लाभ कछु, तिमि प्रपंच जिय जोय ॥ १ ॥
दीप-सिखा-सम जुवति-तन, मन, जनि होसि पतंग ;
भजहि राम तजि काम, मद, करहि सदा सतसंग ॥ २ ॥
ताहि कि संपति सकुन सुभ, सपनेहु मन बिसराम ;
भूत-द्रोह-रत, मोह-बस, राम-बिमुख, रत काम ॥ ३ ॥
नीच निरादर ही सुखद, आदर सुखद बिसाल ;
कदली बदली बिटप गति, पेखहु पनस रसाल ॥ ४ ॥
होत भले के अनभले, होइ दानि के सूम ;
होइ कुपूत सपूत के, ज्यों पावक में धूम ॥ ५ ॥
बरखि बिस्व हरखित करत, हरत ताप, अघ प्यास ;
तुलसी दोष न जलद को, जो जल जरै जवास ॥ ६ ॥
सारदूल को स्वाँग करि, कूकर की करतूति ;
तुलसी तापर चाहिए, कीरति, बिजय, बिभूति ॥ ७ ॥
लोक-रीति फूटी सहै, आँजी सहै न कोइ ;
तुलसी जो आँजी सहै, सो आँधरो न होइ ॥ ८ ॥

सचिव, बद, गुरु तीनि जहँ प्रिय बोलहिं भय-आस ;
राज, देह अरु धरम को होय बेगि ही नास ॥ ९ ॥
सरनागत कहँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि ;
ते नर पामर पापमय, तिन्हैं बिलोकत हानि ॥ १० ॥

कवित्त-रामायण

अवधेस के द्वार सकार गई सुत गोद मैं भूपति लै निकसे ;
अवलोकिहौं सोच बिमोचन को ठगि-सी रहि, जे न ठगे, धिक-से ।
तुलसी मन-रंजन रंजित अंजन नैन सु खंजन-जातिक-से ;
सजनी ससि मैं समसील उभै नव-नील सरोरुह-से-बिकसे ॥ १ ॥
पग नूपुर औ' पहुँची कर-कंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिए ;
नवनील कलेवर पीत झँगा झलकैं, पुलकैं नृप गोद लिए ।
अरबिंद-सों आनन रूप मरंद अनंदित लोचन-भृंग पिए ;
मन में न बस्यो अस बालक जो, तुलसी जग में फल कौन जिए ॥ २ ॥
तन की दुति स्याम सरोरुह, लोचन कंज की मंजुलताई हरैं ;
अति सुंदर सोहत धूरि-भरे, छबि भूरि अनंग की दूरि धरैं ।
दमकैं दँतियाँ दुति दामिनि ज्यों, किलकैं कल बाल-बिनोद करैं ;
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन-मंदिर में बिहरैं ॥ ३ ॥
बिंध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे ;
गौतम-तीय तरी तुलसी, सो कथा सुनि भे मुनि-बृंद सुखारे ।
ह्वैहैं सिला सब चंद्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे ;
कीन्हीं भली रघुनायक जू, करुना करि कानन को पगु धारे ॥ ४ ॥
जो दससीस महीधर-ईस को बीस भुजा खुलि खेलनहारो ;
लोकप, दिग्गज, दानव, देव, सबै सहमैं सुनि साहस भारो ।
बीर बड़ो बिरदैत बली, अजहूँ जग जागत जासु पँवारो ;
सो हनुमान हन्यो मुठिका, गिरिगो गिरिराज ज्यों गाज को मारो ॥ ५ ॥

झूमत द्वार अनेक मतंग जँजीर-जरे, मद अंबु चुचाते ;
तीखे तुरंग मनोगति चंचल, पौन के गौनहुँ ते बढ़ि जाते ।
भीतर चंद्रमुखी अवलोकत, बाहर भूप खड़े न समाते ;
ऐसे भए तो कहा तुलसी, जु पै जानकीनाथ के रंग न राते ॥६॥
कानन, भूधर, बारि, बयारि, महाबिष, ब्याधि, दवा अति घेरे ;
संकट कोटि जहाँ तुलसी सुत, मातु, पिता, हित, बंधु न नेरे ।
राखिहैं राम कृपालु तहाँ, हनुमान-से सेवक हैं जिहि केरे ;
नाक, रसातल, भूतल में रघुनायक एक सहायक मेरे ॥७॥

विनय-पत्रिका

केसव, कहि न जाय, का कहिए ?
देखत तव रचना बिचित्र अति, समुझि मन-हि-मन रहिए।
सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे ;
धोए मिटै न मरै भीति, दुख पाइय यहि तनु हेरे ।
रबिकर नीर, बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं ;
बदन-हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं ।
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि माने ;
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम, सो आपुन पहिचाने ॥ १ ॥
जाके प्रिय न राम बैदेही,
सो छाँड़िए कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ।
तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी ;
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रजबनितनि, भे सब मंगलकारी ।
नाते नेह राम के मनियत, सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं ;
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं ।
तुलसी सो सब भाँति परमहित पूज्य प्रान ते प्यारो ;
जासों होइ सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो ॥ २ ॥

हनुमान-बाहुक

घेरि लियो रोगनि, कुजोगनि, कुजोगनि ज्यों,
　　बासर जलद घनघटा धकिनाई है ;
करुनानिधान हनुमान महाबलवान,
　　हेरि, हँसि, हाँकि फूँकि फौजै तैं उड़ाई है।
बरमत बारि पीर जारिए जवासे जस,
　　रोष बिनु दोष धूम मूल मलिनाई है ;
खाए हुते तुलसी कुरोग राँड़ राकसिनि,
　　केसरी-किसोर राखे बीर बरियाई है ॥ १ ॥
पाँय-पीर, पेट-पीर, बाहु-पीर, मुख-पीर,
　　जरजर सकल सरीर पीर-मई है ;
देव, भूत, पितर, करम, खल, काल, ग्रह,
　　मोहिं पर दवरि दमानक-सी दई है।
हौं तो बिन मोल ही बिकानो बलि बारे ही तें,
　　ओट राम-नाम की ललाट लिखि लई है ;
कुंभज के किंकर बिकल बूड़ैं गोखुरनि,
　　हाय रामराय ऐसी हाल कहूँ भई है ॥ २ ॥

राम-चरित-मानस (रामायण)

सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ
वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वर कपीश्वरौ ॥ १ ॥
उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ;
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥ २ ॥
कुंद-इंदु-सम देह, उमा-रमन करुना-अयन ;
जाहि दीन पर नेह, करउ कृपा मर्दन-मयन ॥ ३ ॥
बंदउँ गुरु-पद-कंज, कृपा-सिंधु नर-रूप हरि ;
महामोह-तम-पुंज, जासु बचन रबि-कर-निकर ॥ ४ ॥

बंदउँ गुरु-पद - पदुम - परागा ; सुरुचि सुबास सरस अनुरागा ।
अमियमूरिमय चूरन चारू ; समन सकल भव-रुज-परिवारू ।
सुकृत संभुतन बिमल बिभूती ; मंजुल मंगल - मोद - प्रसूती ।
जन-मन मंजु मुकुर मल-हरनी ; किए तिलक गुन-गन-बस-करनी ।
श्रीगुरु-पद-नख-मनि-गन-जोती ; सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ।
दलन मोह-तम सो सुप्रकासू ; बड़े भाग उर आवइ जासू ।
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के ; मिटहिं दोष-दुख भव-रजनी के ।
सूझहिं राम-चरित-मनि-मानिक ; गुपित प्रगट जहँ जो जेहि खानिक ।

जथा सुअंजन आँजि दृग, साधक सिद्ध सुजान ;
कौतुक देखहिं सैल बन, भूतल भूरि निधान ।

गुरु-पद-रज मृदु मंजुल अंजन ; नयन-अमिय - दृग-दोष-निभंजन ।
तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन ; बरनउँ राम-चरित भव-मोचन ।
बंदउँ प्रथम महीसुर-चरना ; मोह-जनित संसय सब हरना ।
सुजन-समाज सकल गुन-खानी ; करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी ।
साधु-चरित सुभ सरिस कपासू ; निरस, बिसद, गुनमय फल जासू ।
जो सहि दुख पर-छिद्र दुरावा ; बंदनीय जेहि जग जसु पावा ।
मुद - मंगलमय संत - समाजू ; जो जग जंगम तीरथ - राजू ।
राम-भगति जहँ सुर सरि-धारा ; सरसइ ब्रह्म - बिचार - प्रचारा ।
बिधि-निषेधमय कलि-मल-हरनी ; करम-कथा रबि - नंदिनि बरनी ।
हरि-हर-कथा बिराजति बेनी ; सुनत सकल मुद - मंगल देनी ।
बट-बिस्वासु अचल निज धर्मा ; तीरथराज समाज सुकर्मा ।
सबहि सुलभ सब दिन सब देसा ; सेवत सादर समन कलेसा ।
अकथ. अलौकिक तीरथराऊ ; देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ ।

सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग ;
लहहिं चारि फल अछत-तनु साधु-समाज प्रयाग ।

बालमीकि, नारद, घटजोनी ; निज-निज मुखनि कही निज होनी ।

जलचर, थलचर, नभचर नाना ; जे जड़ - चेतन जीव जहाना ।
मति, कीरति, गति, भूति भलाई ; जब, जेहि जतन, जहाँ जेहि पाई ।
सो जानब सतसंग-प्रभाऊ ; लोकहु बेद न आन उपाऊ ।
बिनु सतसंग बिबेक न होई ; राम-कृपा बिनु सुलभ न सोई ।
सतसंगति मुद-मंगल-मूला ; सोइ फल सिधि सब साधन फूला ।
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई ; पारस परसि कुधातु सोहाई ।
बिधि-बस सुजन कुसंगति परहीं ; फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं ।
बिधि-हरि-हर-कबि-कोविद-बानी ; कहत साधु-महिमा सकुचानी ।
सो मोसन कहि जात न कैसे ; साक-बनिक मनि-गन-गुन जैसे ।

बंदउँ संत समान चित, हित-अनहित नहिं कोउ ;
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोउ ।
संत सरल-चित जगत-हित जानि सुभाव सनेहु ;
बाल-बिनय सुनि, करि कृपा राम-चरन-रति देहु ।

बहुरि बंदि खल-गन सतिभाए ; जे बिन काज दाहिनेहु बाँए ।
पर-हित-हानि लाभ जिन्ह केरे ; उजरे हरष, विषाद बसेरे ।
हरि-हर - जस - राकेस-राहु-से ; पर-अकाज भट सहसबाहु - से ।
जे पर-दोष लखहिं सहसाखी ; पर-हित घृत जिनके मन माखी ।
तेज कृसानु, रोस महिषेसा ; अघ-अवगुन - धन - धनी धनेसा ।
उदय केतु-सम हित सब ही के ; कुंभकरन सम सोवत नीके ।
पर अकाजु लगि तनु परिहरहीं ; जिमि हिम-उपल कृषी दलि गरहीं ।
बंदउँ खल, जस सेष सरोषा ; सहसबदन बरनइ पर - दोषा ।
पुनि प्रनवउँ पृथुराज समाना ; पर-अघ सुनइ सहसदस काना ।
बहुरि सक्र-सम बिनवउँ तेही ; संतत सुरानीक हित जेही ।
बचन-बज्र जेहि सदा पियारा ; सहस - नयन पर - दोष निहारा ।

उदासीन-अरि-मीत-हित, सुनत जरहिं खल रीति ;
जानु पानि जुग जोरि जन बिनती करउँ सप्रीति ।

मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा ; तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा ।
बायस पलिअहि अति अनुरागा ; होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा ।
बंदउँ संत - असज्जन - चरना ; दुख-प्रद उभय, बीच कछु बरना ।
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं ; मिलत एक दारुन दुख देहीं ।
उपजहिँ एक संग जल माहीं ; जलज,जोक जिमि, गुन बिलगाहीं ।
सुधा-सुरा-सम साधु-असाधू ; जनक एक जग जलधि अगाधू ।
भल-अनभल निज-निज करतूती; लहत सुजस, अपलोक बिभूती ।
सुधा, सुधाकर, सुरसरि साधू ; गरल,अनल,कलिमल, सरि, ब्याधू ।
गुन-अवगुन जानत सब कोई ; जो जेहि भाव, नीक तेहि सोई ।

भलो भलाई पै लहइ, लहइ निचाइहि नीचु ;
सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीचु ।

खल अघ अगुन,साधु गुन गाहा ; उभय अपार उदधि अवगाहा ।
तेहि ते कछु गुन-दोष बखाने ; संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने ।
भलेउ पोच सब बिधि उपजाए ; गनि गुन दोष बेद बिलगाए ।
कहहिँ बेद, इतिहास, पुराना ; बिधि-प्रपंच गुन-अवगुन-साना ।
दुख-सुख,पाप-पुन्य दिन-राती ; साधु-असाधु, सुजाति-कुजाती ।
दानव-देव, ऊँच और नीचू ; अमिय - सजीवनि, माहुर - मीचू ।
माया-ब्रह्म, जीव-जगदीसा ; लच्छि-अलच्छि, रंक-अवनीसा ।
कासी-मग, सुरसरि क्रमनासा ; मरु - मालव, महिदेव - गवासा ।
सरग-नरक, अनुराग-बिरागा ; निगम-अगम, गुन-दोष-बिभागा ।

जड़-चेतन, गुन-दोषमय, बिस्व कीन्ह करतार ;
संत-हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि-बिकार ।

खलउ करहिँ भल पाइ सुसंगू ; मिटइ न मलिन सुभाव अभंगू ।
लखि सुबेष जग बंचक जेऊ ; बेष - प्रताप पूजिअहि तेऊ ।
उघरहिं अंत, न होइ निबाहू ; कालनेमि जिमि रावन राहू ।
कियहु कुबेषु साधु-सनमानू ; जिमि जग जामवंत, हनुमानू ।

हानि कुसंग, सुसंगति लाहू ; लोकहु बेद बिदित सब काहू ।
गगन चढ़इ रज पवन-प्रसंगा ; कीचहि मिलइ नीच जल संगा ।
साधु-असाधु-सदन सुक-सारी ; सुमिरहिं राम, देहिं गनि गारी ।
धूम कुसंगति कारिख होई ; लिखिअ पुरान मंजु मसि सोई ।
सोइ जल-अनल अनिल-संघाता ; होइ जलद जग-जीवन-दाता ।

ग्रह, भेषज, जल, पवन, पट, पाइ कुजोग, सुजोग ;
होहिं कुबस्तु सुबस्तु जग, लखहिं सुलच्छन लोग ।
सम प्रकास तम पाख दुहुँ, नाम-भेद बिधि कीन्ह ;
ससि-पोषक, सोषक समुझि, जग जस-अपजस दीन्ह* ।

सीय-राममय सब जग जानी ; करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ।
जानि कृपा करि किंकर मोहू ; सब मिलि करहु, छाँड़ि छल छोहू ।
निज बुधि-बल-भरोस मोहिं नाहीं ; ताते बिनय करउँ सब पाहीं ।
करन चहउँ रघुपति-गुन-गाहा ; लघु मति मोरि, चरित अवगाहा ।
सूझ न एकउ अंग उपाऊ ; मन मति रंक, मनोरथ राऊ ।
मति अति नीचि, ऊँचि रुचि आछी ; चहिय अमिय जग जुरइ न छाछी ।
छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई ; सुनिहहिं बाल-बचन मन लाई ।

भनित मोरि सब गुन-रहित, बिस्व बिदित गुन एक ;
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति, जिन्हके बिमल बिबेक ।

यहि महँ रघुपति नाम उदारा ; अति पावन, पुरान स्रुति-सारा ।
मंगल - भवन, अमंगलहारी ; उमा-सहित जेहि जपत पुरारी ।
भनित बिचित्र सुकबि-कृत जोऊ ; राम-नाम-बिनु सोह न सोऊ ।
बिधु-बदनी सब भाँति सँवारी ; सोह न बसन बिना बर नारी ।
सब गुन-रहित कुकबि-कृत बानी ; राम-नाम-जस अंकित जानी ।
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही ; मधुकर सरिस संत गुन-ग्राही ।

---

* दोनो पक्षों में प्रकाश और तम वास्तव में न्यूनाधिक हैं ।

जदपि कबित-रस एकउ नाहीं ; राम-प्रताप प्रकट यहि माहीं ।
सोइ भरोस मोरे मन आवा ; केहि न सुसंग बड़प्पन पावा ।
धूमउ तजइ सहज करुआई ; अगरु - प्रसंग सुगंध बसाई ।
भनित भदेस, बस्तु भलि बरनी ; राम - कथा जग - मंगल - करनी ।

स्याम सुरभि, पय बिसद अति गुनद करहिं सब पान ;
गिरा ग्राम्य, सिय-राम-जस, गावहिं सुनहिं सुजान ।

मनि-मानिक-मुकुता-छबि जैसी ; अहि गिरि-गज-सिर सोह न तैसी ।
नृप-किरीट, तरुनी-तनु पाई ; लहहिं सकल सोभा अधिकाई ।
तैसेहि सुकबि कबित बुध कहहीं ; उपजहिं अनत, अनत छबि लहहीं ।
भगत-हेतु बिधि-भवन बिहाई ; सुमिरत सारद आवति धाई ।
राम-चरित-सर बिनु अन्हवाए ; सो स्रम जाइ न कोटि उपाए ।
कबि-कोबिद अस हृदय बिचारी ; गावहिं हरि-जस कलि-मल-हारी ।
कीन्हे प्राकृत-जन गुन गाना ; सिर धुनि गिरा लागि पछिताना ।
हृदय सिंधु मति सीपि समाना ; स्वाती सारद कहहिं सुजाना ।
जो बरसइ बर बारि बिचारू ; होहिं कबित मुकुता-मनि चारू ।

जुगुति बेधि पुनि पोहियहि, रामचरित बर-ताग ;
पहिरहिं सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग ।

वेद-स्तुति

जय सगुन-निर्गुन रूप राम, अनूप भूप-सिरोमने ;
दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुज-बल हने ।
अवतार नर संसार-भार बिभंजि दारुन दुख दहे ;
जय प्रनतपाल दयाल प्रभु संजुक्त-सक्ति नमामहे ।
तुव बिषम माया बस सुरासुर, नाग, नर, अग, जग हरे ;
भव-पंथ भ्रमत अमित दिवस-निसि काल कर्म गुननि भरे ।
जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिध दुख ते निर्बहे ;
भव-खेद छेदन-दच्छ हम कहँ रच्छ राम नमामहे ।

जे ज्ञान-मान-बिमत्त तव भव-हरनि भक्ति न आदरी ;
ते पाइ सुर-दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी ।
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तुव जे होइ रहे ;
जपि नाम तुव बिनु स्रम तरहिं भव नाथ राम नमामहे ।
जे चरन सिव-अज-पूज्य रज सुभ परसि मुनि-पतिनी तरी ;
नख-निर्गता मुनि-बंदिता त्रैलोक्य पावनि सुरसरी ।
ध्वज-कुलिस-अंकुस-कंज-जुत बन फिरत कंटक जिन लहे ;
पद-कंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे ।
अव्यक्त मूलमनादि तरु त्वक चारि निगमागम भने ;
षट कंध, साखा पंचबिंस, अनेक पर्न, सुमन घने ।
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आस्रित रहे ;
पल्लवित, फूलत, नवल नित संसार-बिटप नमामहे ।
जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं ;
ते कहहु जानहु नाथ हम तुव सगुन जस नित गावहीं ।
करुनायतन प्रभु सद्गुनाकर देव यह बर माँगहीं ;
मन-बचन-कर्म बिकार तजि तुव चरन हम अनुरागहीं ।

(२)

महात्मा सूरदास

—:-o-:—

सूरदास ने बिरच सूरसागर अति भारी ;
कृष्ण-भक्ति की ललित लहर जग में बिस्तारी ।
लिया विषय जो हाथ, दूर तक उसे निबाहा ;
एक न छोड़ा भाव, शब्द-सागर अवगाहा ।
कर अमित विषय वर्णित विशद सभी परम सुंदर कहे ,
अब कवियों के हित ये सभी इस कवि के जूठे रहे ।

सूरदास की गणना अष्ट-छाप अर्थात् व्रज के आठो कवीश्वरों में है । उन आठ कवियों के नाम ये हैं—सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास, कृष्णदास, छीत स्वामी, गोविंद स्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास । इनमें प्रथम चार महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य के और अंतिम चार श्रीस्वामी विट्ठलनाथ के सेवक थे । व्रज-भाषा के अरुणोदय-काल में, व्रज में, वे आठो कवि हो गए हैं, और सभी ने पदों द्वारा श्रीकृष्णचंद्र आनंदकंद के यश का कीर्तन किया ।

सूरदास का जन्म, संवत् १५३५ विक्रमीय में हुआ, और संवत् १६४२ वि० में उनकी मृत्यु हुई । वल्लभीय संप्रदाय के ग्रंथों से ज्ञात हुआ है कि आप वल्लभाचार्य से दस-ग्यारह दिन छोटे थे तथा सं० १६४२ में शरीर छोड़नेवाले बिट्ठलनाथ से कुछ ही पहले स्वर्गवासी हुए थे । बाबू राधाकृष्णदास ने लिखा है—“मुझे उनकी अवस्था लगभग अस्सी वर्ष की होने का पक्का प्रमाण मिला है ।” पर वह पक्का प्रमाण क्या है, सो उन्होंने नहीं लिखा ।

जन्म-विषयक प्रमाण में ही वक्तव्य है कि सूर-सारावली के विषय में सूरदास ने स्वयं उसी ग्रंथ का १००२ नंबर का छंद यों लिखा है—

"गुरु-प्रसाद होत यह दरसन, सरसठि बरस प्रबीन,
शिव-विधान तप करेउ बहुत दिन तऊ पार नहिं लीन।"

सूर-सारावली एक प्रकार से सूरसागर की सूची कही जा सकती है, और यह भी जान पड़ता है कि सूरसागर के समाप्त होने के कुछ ही दिन पश्चात् बनाई गई होगी। यह भी कहा गया है कि यह किसी अन्य सूरदास की रचना है। सूरदास ने साहित्य-लहरी नाम की एक और पुस्तक बनाई, और इसमें छाँटकर सूरसागर में लिखित एवं अन्य दृष्ट-कूट पदों का संग्रह किया। जान पड़ता है, सूरसागर बन जाने के कुछ ही दिन पश्चात् या पूर्व यह ग्रंथ भी बना होगा। इसमें सूरदास ने संवत् यों दिया है—

"मुनि पुनि रसन के रस लेख;
दसन गौरी-नंद को लिखि, सुबल संबत पेख।
नंदनंदन-मास, छयतें हीन तृतिया बार;
नंदनंदन जनमतें हैं बाण सुख आगार।
तृतिय ऋक्ष सुकर्म जोग विचारि 'सूर' नवीन;
नंदनंदनदास हित साहित्य-लहरी कीन।"

मुनि = ७, रसन = ० (जिसमें कोई रस नहीं, अर्थात् जो कुछ भी नहीं, याने शून्य है। रसन से रसना मानकर इसका प्रयोजन दो का अंक भी कहा गया है।) रस = ६, दसन गौरीनंद = १, = १६०७; या १६२७, नंदनंदन-मास = वैशाख (मधु); छयते-हीन तृतीया = अक्षय-तृतीया; तृतीय ऋक्ष = कृत्तिका नक्षत्र; सुकर्म-जोग। अतः यह विदित हुआ कि साहित्य-लहरी संवत् १६०७ या १६२७ वि० में लिखी गई। यह ऊपर कहा जा चुका है कि यह सूर-

सारावली के साथ-ही-साथ लिखी गई होगी। अतएव इसके लिखने के समय भी सूरदास की अवस्था ६७ साल की थी। परंतु इस हिसाब में यह मान लिया गया है कि सूर-सारावली और साहित्य-लहरी एक ही समय में बनीं। यह अनुमान ऐसा दृढ़ नहीं कि इस पर निश्चयात्मक रीति से कोई कुछ कहे। संभव है, उन्होंने साहित्य-लहरी सूरसागर के कुछ ही पीछे बनाई हो, और सूर-सारावली बनाने का विचार उनके चित्त में बहुत दिन पीछे उठा हो। यह जान पड़ता है कि सूरदास ने सूरसागर वृद्धावस्था में समाप्त किया होगा, क्योंकि वह सहस्रों पद बना चुकने के पीछे सूर-सारावली बनाने लगे थे, और वे सब पद सूरसागर में ही सन्निविष्ट थे। सूर-सागर में पद पीछे से भी बढ़ते गए होंगे।

सूरदास लिखते हैं, उनके गुरु श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु थे, और श्रीगोस्वामी बिट्ठलनाथ ने उनको अष्ट-छाप में रक्खा। यथा—

"श्रीवल्लभ गुरु-तत्त्व सुनायो लीला-भेद बतायो।"
"थपि गोसाईं करी मेरी आठ मध्ये छाप।"
(सूर-सारावली नं० ११०२)

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने लिखा है कि आचार्यजी के जन्म एवं मरण-काल संवत् १५३५ एवं १५८७ वि० थे, और गोस्वामीजी के १५७२ एवं १६४२ वि०। सूर का मरण-काल भी संवत् १५७२ वि० से बहुत पीछे होगा, क्योंकि उस संवत् में जन्म ग्रहण करके गोस्वामीजी ने बहुत दिनों में प्रतिष्ठा प्राप्त की और तब अपने चार शिष्यों के साथ सूरदास को अष्ट-छाप में रक्खा होगा। अतः इस हिसाब से भी सूरदास के जन्म और मरण-काल १५३५ और १६४२ के लगभग ठहरते हैं।

श्रीगोस्वामी बिट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ ने 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' नाम की एक पुस्तक कही। भक्तमाल में भी बहुत भक्तों की जीवनियाँ दी गई हैं। इन दोनो पुस्तकों में सूरदास का

वृत्तांत लिखा है, परंतु वह बहुत छोटा होने के कारण संतोष-जनक नहीं। सूरदास के वंश इत्यादि के विषय में कुछ गड़बड़ पड़ गई है। वह दो प्रामाणिक पुस्तकों में दो प्रकार लिखा हुआ है। सूरदास-कृत 'सूरदास के दृष्ट-कूट'-नामक पुस्तक में कवि-वंश वर्णित है। इससे विदित होता है कि इनका पूर्व-पुरुष प्रार्थज-गोत्रीय जगात-वंश का ब्रह्मराव-नामक व्यक्ति था। उसके वंश में हरिचंद बड़ा विख्यात हुआ। उसका पुत्र आगरे में रहा, जिसके सात पुत्र हुए। उनके नाम थे—कृतचंद, उदारचंद, रूपचंद, बुद्धिचंद, देवचंद, प्रबोधचंद और सूरजचंद। सातवाँ पुत्र सूरजचंद ही हमारे विख्यात कवि सूरदास थे। सूर के सब भाई शाह से युद्ध करके परमगति को प्राप्त हुए। सूरजचंद अंधे थे, अतः वह एक कुएँ में जा पड़े, और छ दिन तक उसी में पड़े रहे। किसी ने उनकी पुकार नहीं सुनी। सातवें दिन यदुपति ने उन्हें बचाया। यथा—

"परो कूप, पुकार काहू सुनी ना संसार ;
सातएँ दिन आय जदुपति कियो आपु उधार।
दिव्य चख दै, कही, सिसु, सुनु जोग-वर जो चाइ ;
हौं कही, प्रभु-भगति चाहत सत्रु-नास सुभाइ।
दूसरो ना रूप देखौं देखि राधा-स्याम ;
सुनत करुना-सिंधु भाखी, एवमस्तु सुधाम।
प्रबल दच्छिन बिप्र-कुल ते सत्रु ह्वैहै नास,
अखिल बुद्धि, बिचार, बिद्या, मान मानै मास।"

इस लेख के अनुसार सूरदास भाट सिद्ध होते हैं। यहाँ शत्रु का अर्थ मुसलमान बादशाह है, क्योंकि उन्हीं से लड़कर सूर के सब भाई मारे गए थे। वरदान फलतः यह हुआ कि दक्षिण के पेशवा-राजा शत्रु-नाश करेंगे। उस समय न मरहटों का कुछ भी बल था, न शिवाजी तक—जो क्षत्रिय-राजा थे—उत्पन्न हुए थे।

तो फिर पेशवाओं का, जो पीछे साहूजी के सचिव हुए, इतना प्रचंड अभ्युदय सोचना कि वे मुसलमानों को परास्त करने में कभी समर्थ होंगे (जैसा कि अंत को वे हुए), किसी का काम न था। इसलिये स्पष्ट प्रकट है कि ये छंद सूरदास के बनाए हुए नहीं। हमारा ख़याल है कि इनसे लगभग दो सौ वर्ष पीछे, पेशवाओं का अभ्युदय और मुग़लों का पतन देखकर, किसी ब्रह्मभट्ट ने लगभग बालाजी-बाजीराव के समय में वे छंद बनाकर सूरदास की कविता में रख दिए। इन छंदों के कपोल-कल्पित होने का दूसरा बड़ा भारी प्रमाण यह है कि मियाँसिंह ने भक्त-विनोद में सूरदास को ब्राह्मण कहा है। इसी प्रकार चौरासी-वार्ता और भक्त-विनोद में शत्रु-नाश के वरदान का कोई हाल नहीं लिखा है, यद्यपि कूप-पतन का वर्णन है। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने ८४ वैष्णवों की वार्ता के कई अमुद्रित टीका-ग्रंथ देखे होंगे। कम-से-कम अपने सूर-संबंधी ज्ञान के आधार पर वह कहते हैं कि उपर्युक्त दृष्ट-कूट के पूर्व सूर बराबर सारस्वत ब्राह्मण माने जाते थे। जब यह संदेह निवृत्त हो जाता है, तब पुराना विचार दृढ़ हो ही जायगा। स्वामी हरिरायजी स्वामी बिट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ के समकालीन थे। ८४ तथा २५२ वैष्णवों की वार्ताओं के बनने में इनका भी बहुत कुछ हाथ था। यह सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण लिखते हैं। बिट्ठल के एक पुत्र ने भी यही लिखा है।

इन सब कारणों से यह सिद्ध होता है कि वास्तव में सूरदास सारस्वत ब्राह्मण थे, और इनके पिता का नाम रामदास हो सकता था। इनका जन्म दिल्ली के समीप सीही-ग्राम के निवासी निर्धन माता-पिता के घर हुआ। अब यह प्रश्न उठता है कि सूरदास जन्मांध थे, या नहीं? इसके विषय में सिवा भक्तमाल के कोई प्राचीन प्रमाण तो नहीं मिला, परंतु रीवाँ-नरेश महाराज रघुराजसिंह-

कृत रामरसिकावली में, भक्तमाल के आधार पर, लिखा है— "जनमहिं ते हैं नैन-बिहीना।" हमें तो इस लेख पर विश्वास नहीं होता। सूरदास ने अपनी कविता में ज्योति के, रंगों के और अनेकानेक हाव-भावों के ऐसे-ऐसे मनोरम वर्णन किए हैं, तथा उपमाएँ ऐसी चुभती हुई दी हैं, जिनसे यह किसी प्रकार निश्चय नहीं होता कि कोई व्यक्ति बिना आँखों-देखे, केवल श्रवण द्वारा प्राप्त ज्ञान से, ऐसा वर्णन कर सकता है। चौरासी-वार्ता में इनका जन्मांध होना नहीं लिखा है। वार्ता में अकबर शाह ने अंधता के विषय में सूर से प्रश्न किया था, किंतु कोई उत्तर नहीं पाया। वहाँ जन्मांधता का कथन है भी नहीं। एक किंवदंती है कि सूरदास जब अंधे न थे, तब एक युवती को देखकर उस पर आसक्त हो गए, किंतु पीछे प्रकृतिस्थ होकर यह दोष नेत्रों का समझ तुरंत दो सुइयों से आपने अपने दोनो नेत्र फोड़ डाले। संभव है, स्त्री का विषय होने के कारण ही चौरासी-वार्ता में यह हाल न लिखा गया हो। यह भी कहा जाता है कि यह कथा बिल्वमंगल की है।

भक्तमाल में लिखा है कि इनके पिता ने आठ वर्ष की अवस्था में इनका यज्ञोपवीत कर दिया। कुछ काल में इनके माता-पिता मथुरा-दर्शन को गए। उस समय सूरदास भी उनके साथ थे। जब वे घर लौटने लगे, तब सूरदास ने उनसे बिनती की कि "अब मुझे यहीं रहने दो।" इस पर इनके माता-पिता रोने लगे; बोले—"तुम्हें अकेले किसके सहारे छोड़ जायँ?" तब सूर ने कहा—"कृष्णचंद्र का सहारा क्या थोड़ा है?" इस पर एक साधु ने कहा—"मैं इस बालक को अपने साथ रक्खूँगा।" तब सूर के माता-पिता रोते-कलपते घर चले गए, और यह महाराज व्रज में ही रह गए। एक बार अंधे होने के कारण सूरदास एक कुएँ में जा पड़े, और छ दिन तक उसी में पड़े रहे। सातवें दिन इन्हें किसी

ने निकाला। सूर ने समझा, स्वयं कृष्ण भगवान् ने इन्हें निकाला है। बस, इन्होंने निकालनेवाले की बाँह पकड़ ली, पर वह बाँह छुड़ाकर भाग गया। इस पर इन्होंने यह दोहा पढ़ा—

"बाँह छुड़ाए जात हौ निबल जानिकै मोहि ;
हिरदै सों जब जाइहौ, मरद बदौंगो तोहि।"

इसके उपरांत, चौरासी-वार्ता के अनुसार, आप गऊघाट-नामक एक स्थान पर, जो आगरे और मथुरा के बीच में है, रहने लगे। वहीं यह महाराज वल्लभाचार्य महाप्रभु के शिष्य हुए, उन्हीं के साथ गोकुल में श्रीनाथजी के मंदिर गए, और बहुत काल तक वहीं कीर्तन करते रहे। यह मंदिर सं० १५७६ में बना था, और आचार्यजी का देहावसान सं० १५८७ में हुआ। इन्हीं समयों के बीच की ये घटनाएँ हैं। इसी स्थान पर इनसे गोस्वामी विट्ठलनाथ से बहुधा भेंट हुआ करती थी, और गोस्वामीजी इनके पद सुना करते थे। सूरदास सदैव कृष्णानंद में मग्न एवं उन्मत्त रहा करते थे, और अपनी अखंड भक्ति से संसार को शुद्ध करते थे।

यहीं रहते-रहते यह महाराज वृद्धावस्था को प्राप्त हुए। जब इन्हें विदित हुआ कि इनका अंत-समय निकट है, तब यह पारासोली चले गए। यह भगवान् के रास का स्थान कहा जाता है। वैष्णवों का एक पुनीत स्थान है। जब गोस्वामीजी को यह संवाद मिला, तब वह भी वहीं पहुँचे, और सूरदास से अंत-पर्यंत उनसे बातचीत होती रही। उसी समय किसी ने इनसे पूछा—"आपने अपने गुरु का कोई पद क्यों नहीं बनाया ?" इस पर इन्होंने उत्तर दिया—"मैंने सब पद गुरुजी ही के बनाए हैं, क्योंकि मेरे गुरु और श्रीकृष्णचंद्र में कोई भी भेद नहीं।" तथापि एक पद भी रचा। वह यों है—

"भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो ;
श्रीवल्लभ-नख-चंद-छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो।

साधन और नहीं या कलि मैं, जासों होत निबेरो ;
'सूर' कहा कहि दुबिधि आँधरो, बिना मोल को चेरो।"

अंत-समय सूरदास कृष्ण-राधिका का एक भजन कहकर ऐसे प्रेम-गद्गद हुए कि उनके नेत्रों में अश्रु-जल छा गया। इस पर गोस्वामीजी ने पूछा—"सूरदासजी, नेत्र की वृत्ति कहाँ है ?" तब सूरदास ने निम्न-लिखित भजन पढ़कर शरीर त्याग दिया—

"खंजन-नैन रूप-रस-माते ;
अतिसै चारु, चपल, अनियारे पल-पिंजरा न समाते।
चलि-चलि जात निकट स्रवनन के उलटि-पुलटि ताटंक फँदाते ;
'सूरदास' अंजन गुन अटके, नातरु अब उड़ि जाते।"

इन महाशय के विषय में कई ग्रंथकारों का कहना है कि यह उद्धव के अवतार थे।

कविता

सूरदास ने पाँच ग्रंथ बनाए—सूरसागर, सूर-सारावली, साहित्य-लहरी (दृष्ट-कूट), नल-दमयंती और ब्याहलो। खोज में ब्याहलो और नल-दमयंती, ये दो ग्रंथ लिखे हैं, पर हमारे देखने में नहीं आए।

साहित्य-लहरी को सूरदास ने सं० १६०७ वि० में संकलित किया। इसमें कुछ पद सूरसागर से और कुछ कूट रक्खे गए।

सूर-सारावली में सूरदास ने सूरसागर की सूची-सी दी है। इसमें ११०७ पद हैं। ग्रंथ संदिग्ध है।

सूरसागर बारह स्कंधों में समाप्त हुआ है, परंतु दशम स्कंध के पूर्वार्द्ध को छोड़कर शेष स्कंध बहुत छोटे हैं, और उनमें साहित्यिक छटा भी प्राय: वैसी रोचक नहीं, जैसी दशम के पूर्वार्द्ध में है। जिस प्रकार तुलसीदास के बाल तथा अयोध्या-कांड निकाल डालने से उनके कवित्व-गौरव का एक बृहदंश खंडित हो सकता है, उसी प्रकार यदि सूरदास के दशम स्कंध का पूर्वार्द्ध निकाल डाला जाय,

तो सूर को सूर्यवत् कोई भी न माने। तथापि जैसे रामायण के अन्य कांडों में गोस्वामीजी की कवित्व-शक्ति की पूर्ण झलक मिलती है, और पूर्वोक्त दोनो कांड पढ़कर पाठक अवाक् रह जाते हैं, वही सूर-कृत दशम के पूर्वार्द्ध एवं अन्य स्कंधों का हाल है। सूरसागर में श्रीमद्भागवत के आशय पर कथा कही गई है, परंतु कथाएँ बहुत न्यूनाधिक हैं। प्रथम नव स्कंधों में विविध वार्ताएँ और कथाएँ हैं, तथा दशम में श्रीकृष्णचंद्र की लीलाओं का वर्णन है। एकादश स्कंध में उद्धव का बदरिकाश्रम-गमन एवं हंस की कथा है। बारहवें स्कंध में बौद्धावतार, भविष्य कल्कि-अवतार एवं परीक्षित के शरीर-त्याग का वर्णन है। सूरदास ने प्रत्येक वर्णन सूक्ष्म रूप से किया, केवल श्रीकृष्ण ने नंद-गृह में बसकर जो लीलाएँ कीं, उनका और उद्धव-संवाद का वर्णन विस्तार-पूर्वक है, परंतु इन्हीं दोनो वर्णनों में सूरदास ने दिखा दिया है कि विस्तार किसे कहते हैं। सूर व्रजवासी कृष्ण के, विशेषकर राधा-कृष्ण के, भक्त थे। अतः ज्यों ही कृष्ण मथुरा को चले गए, त्यों ही उनका भी वर्णन संक्षेप से होने लगा। कहीं-कहीं आपने कार्यों के वर्णन में बड़ी ही द्रुत गति का आश्रय लिया है। आप व्रज में मथुरा को नहीं जोड़ते (पृष्ठ ५६२)। व्रजवासीदास ने व्रजविलास को इसी पुस्तक के सहारे बनाया। इस ग्रंथ के गुणों और दोषों का वर्णन सौर कविता की समालोचना में किया जाता है।

कविता की समालोचना

सूरदास की कविता में सर्व-प्रधान गुण यह है कि उसके एक-एक पद से कवि की अटल भक्ति झलकती है। प्रत्येक मनुष्य का काव्य उत्कृष्ट तभी होता है, जब वह सच्चा हो। सच्ची कविता तभी बनती है, जब कवि, जो उस पर बीते, अथवा जो उमंगें उसके चित्त में उठें, या जो भाव उसके चित्त में भरे हों, उन्हीं का वर्णन करे। यदि कोई

लंपट मनुष्य वैराग्य-कथन करने बैठेगा, तो वह सिवा चोरी के और क्या करेगा ? उसके चित्त में वैराग्य का अभाव है। उसके चित्त-सागर को वैराग्य की तरंगों ने कभी चंचल नहीं किया। तब वह बेचारा अनुभव न होने पर भी वैराग्य के सच्चे भाव कहाँ से लाकर वर्णन करे ? यदि वह हठात् लिखने बैठ ही जायगा, तो वैराग्य के विषय में उसने इधर-उधर से जो कुछ सुन लिया होगा, वही कह चलेगा। ऐसी दशा में उसकी कविता में सिवा चोरी के कोई मूल भाव न आवेगा। ऐसे ही काव्य को निर्जीव कहना पड़ता है।

इसके विपरीत जो मनुष्य सचमुच विरक्त है, उसके चित्त में वैराग्य-संबंधी वास्तविक भाव उठेंगे, और जब उनका वर्णन होगा, तभी कविता सच्ची और सजीव होगी।

सूरदास की कविता प्रधानतः ऐसी है कि उसमें भक्ति का चित्र प्रत्येक स्थान पर देख पड़ता है। यह महाराज जाति-भेद, कर्म-भेद आदि को तुच्छ मानकर केवल भक्ति को प्रधान और मानव-हृदय का एकमात्र शृंगार समझते थे। इनके मत में, यदि कोई मनुष्य भक्त है, तो वह बड़ा है, चाहे जिस जाति अथवा पाँति का क्यों न हो। कोई मनुष्य चाहे जितना चंदन आदि क्यों न लगाता हो, परंतु यदि शुद्ध भक्त नहीं, तो वह अपना समय वृथा नष्ट करता है। यह महाराज यह नहीं समझ सकते थे कि कोई मनुष्य भक्त क्योंकर न हो ? जो भक्ति नहीं करता था, उस पर यह अचंभा करते थे। यह कहते थे—'भगति बिनु बैल बिराने ह्वै हौ।' भक्ति के विषय में, संक्षेप में, इनका मत यह था—

"तजौ मन, हरि-बिमुखन को संग ;
जाके संग कुबुधि उपजति है, परत भजन में भंग।
कहा होत पय-पान कराए, बिष नहिँ तजत भुजंग ;
कागहि कहा कपूर चुगाए, स्वान न्हवाए गंग।

खर को कहा अरगजा-लेपन, मरकट भूषन-अंग ;
गज को कहा न्हवाए सरिता, बहुरि धरै खहि छंग।
पाहन पतित बान नहि बेधत, रीतो करत निषंग ;
'सूरदास' खल कारी कामरि चढ़त न दूजो रंग।"

"भजन बिनु कूकर-सूकर-जैसो :
जैसे घर बिलाव के मूसा, रहत विषय-बस वैसो ;
उनहू के गृह, सुत, दारा हैं, उन्हें भेद कहु कैसो ?"

यह महाराज जगदीश्वर, राम एवं कृष्ण को एक ही समझते थे—

"सोई बड़ो जु रामहिं गावै।
स्वपच प्रसन्न होय बड़ सेवक,
बिनु गोपाल द्विज-जनम न भावै।
होय अटल जगदीस-भजन में,
सेवा तासु चारि फल पावै।"

और, शेष देवतों में यह देव-भाव नहीं रखते थे। यथा—

"और देव सब रंक भिखारी, त्यागे बहुत अनेरे।"

सूरदास को एक ईश्वर का उपासक कहना चाहिए।
सगुणोपासना करने का कारण सूर ने इस प्रकार लिखा है—

"अबिगति गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अंतरगत ही भावै :
मन-बानी को अगम, अगोचर, सो जानै, जो पावै।
रूप-रेख, गुन, जाति, जुगुति बिनु निरालंब मन धावै,
सब बिधि अगम बिचारहिं, तातें 'सूर' सगुन पद गावै।"

ऐसे भक्त होने पर भी सूरदास अपने को इतना बड़ा पतित समझते थे कि चित्त को आश्चर्य होता है। इनको इतनी प्रबल और प्रगाढ़ भक्ति होने पर भी कहना पड़ता है कि इनकी और तुलसीदास की भक्ति में भेद था। गोस्वामीजी की भक्ति दास-भाव की थी, परंतु

इनकी वात्सल्य, सखा और सखी-भाव की। यह महाशय श्रीकृष्णचंद्र को अपना मित्र समझते थे, और इसी कारण इन्होंने राधा को भी भला-बुरा कहा है, और जब श्रीकृष्ण भी कोई अनुचित बात करते थे, तब उन्हें भी सूरदास डाँट देते थे। इसके अतिरिक्त सखी-भाव भी आपकी रचना में आता है।

भगवान् श्रीकृष्णचंद्र के विषय में हमने गोस्वामी तुलसीदास के अवतार-संबंधी वर्णन में कुछ कथन किया है। उस स्थान पर रामचंद्र का मुख्य विवरण था। अब भगवान् श्रीकृष्णचंद्र-संबंधी शेष कथन यहाँ किया जाता है। आप विष्णु के अवतार कहे गए हैं। विष्णु की महत्ता औपनिषत् काल में नारायण के रूप में हुई। अनंतर वासुदेव, भगवत् और कृष्ण के रूपों में वैष्णव पूजन चला। छठी या चौथी शताब्दी सं० पू० के पाणिनि वासुदेव को पूज्य देवता मानते थे। श्रीभगवद्गीता में श्रीकृष्ण विष्णु के अवतार तथा भगवान् हैं। यह ग्रंथ पाँचवीं शताब्दी सं० पू० का है। चौथी शताब्दी सं० पू० का बौद्ध ग्रंथ निद्देश बलराम के पूजन की साक्षी देकर व्यूह-पूजन का चलन बतलाता है। तीसरी शताब्दी सं० पू० का ग्रीक-राजदूत मेगास्थिनीज़ मथुरा में कृष्ण-पूजन का चलन प्रकट करता है। दूसरी शताब्दी सं० पू० के पतंजलि वासुदेव को पूज्य देवता कहते हैं, तथा इसी समय के घोसुंडी और बेसनगर के शिला-लेख संकर्षण और वासुदेव का पूजन बतलाते हैं, और सौ वर्ष पीछे का नानाघाटवाला शिला-लेख भी यही बात कहता है। पहली शताब्दी के इधर-उधर आभीर-जाति मथुरा के निकट बालकृष्ण का पूजन करती थी। इसी समय के घटजातक में बालकृष्ण का वर्णन है, तथा (इसी समय के) अमरकोष में दामोदर नाम आया है, जो बालकृष्ण से संबद्ध है। इस काल के पूर्व बालकृष्ण का पूजन नहीं लिखा है। राधा या प्रेम का कथन अब तक भी नहीं आया

है। गुप्तकाल में भागवत, जनार्दन तथा विष्णु-पूजन के प्रमाण मिलते हैं। चौथी-पाँचवीं शताब्दी के कालिदास गोपालकृष्ण का कथन करते हैं, और छठी के वराहमिहिर भागवत विष्णु का। शंकराचार्य (आठवीं शताब्दी) के समय और पहले भी एकांतिक मत का पता चलता है, जिसमें व्यूह-पूजन का आधिक्य था। उद्योग-पर्व में कृष्ण-पार्थ नर-नारायण हैं। बारहवीं शताब्दी में निंबार्क स्वामी के साथ राधा-पूजन का चलन चलता है, और पीछे से श्रीकृष्ण का वाम-मत-पूर्ण शृंगारिक वर्णन होता है। छांदोग्य-उपनिषत् में कोई देवकी-पुत्र कृष्ण अध्यात्म-विद्या-प्रेमी हैं। स्वामी शंकराचार्य का निराधार मत है कि वह कृष्ण दूसरे थे। संभवतः उन्हें कोई प्रमाण ज्ञात होगा, जो अब अप्राप्त है।

सूरदास की भाषा शुद्ध व्रज-भाषा है। इनकी भाषा ऐसी ललित और अति मधुर है, जैसी इनके पीछेवाले कवियों तक में बहुत कम पाई जाती है। इनकी कविता में मिलित वर्ण बहुत कम आते हैं। उसके माधुर्य और प्रसाद प्रधान गुण हैं। ओज की मात्रा इनकी कविता में कुछ कम है। इनको अनुप्रास का इष्ट नहीं था, परंतु उचित रीति पर इन गुणों को यह महाराज अपनी कविता में रखते थे। कहीं यमक आदि के लिये इन्होंने अपना भाव नहीं बिगाड़ा। इनके पद ललित और अर्थ गंभीरता से भरे हुए हैं।

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षादि। यह महाराज अपनी कविता में रूपक लाना पसंद करते थे, और इन्होंने उपमाएँ भी बहुत ही अच्छी खोज-खोजकर रक्खी हैं। इनके अर्थ, गांभीर्य, उपमा और पद-लालित्य ऐसे उत्कृष्ट हैं कि किसी कवि को कहना ही पड़ा—

"उत्तम पद कबि गंग के, उपमा को बलबीर (बीरबल),
केसव अरथ-गँभीरता, सूर तीनि गुन धीर।"

उदाहरणार्थ इनके दो पद आगे लिखे जाते हैं, जिनसे इन

महाराज के रूपक, उपमा, अनुप्रास और भाषा का अच्छा ज्ञान होगा। आपने प्रायः रूपकों में पूरे वर्णन किए हैं। संयोग-शृंगार में उपमा रूपक तथा उत्प्रेक्षा की बहुतायत रक्खी है, और वियोग-वर्णन में स्वभावोक्ति की। यथा—

"अद्भुत एक अनूपम बाग;
जुगुल कमल पर गजवर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग :
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ताहू पर अमरित-फल लाग।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पालव, तापर सुक, पिक, मृगमद, काग ;
खंजन धनुप चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर यक मनिधर-नाग।
अंग-अंग प्रति और-और छबि, उपमा ताको करत न त्याग ;
'सूरदास' प्रभु पियहु सुधा-रस, मानहु अधरन को बड़ भाग।"

"बरनौं श्रीबृषभानु-कुमारि ;
चित दै सुनहु स्याम-सुंदर छबि, रति नाहीं उनहारि।
प्रथमहि सुभग स्याम-बेनी को सुषमा कहहु बिचारि ;
मानहु फनिक रह्यो पीवन को ससि-मुख सुधा निहारि।
बरनै कहा सीस-सेंदुर को, कबि जु रह्यो पचि हारि ;
मानहु अरुन किरन दिनकर की निसरी तिमिर बिदारि।
भृकुटी बिकट निकट नैनन के, राजत अति बर नारि ;
मनहु मदन जग-जीति जेर करि, राखेउ धनुप उतारि।
ता बिच बनी आड़ केसरि की, दीन्ही सखिन सँवारि ;
मानो बँधो इंदु-मंडल मैं रूप-सुधा की पारि।
चपल नैन नासा बिच सोभा, अधर सुरंग सुढारि :
मनो मध्य खंजन सुक बैठ्यो, लुबध्यो बिंब-बिचारि।
तरिवन सुघर, अधर नकबेसरि, चिबुक चारु रुचिकारि;
कठसिरी, दुलरी तिलरी पर, नहिं उपमा कहुँ चारि।

सुरँग गुलाब-माल कुच-मंडल, निरखत तन-मन वारि ;
मानौ दिसि निरधूम अगिनि के तपि बैठ त्रिपुरारि।
जौ मेरो कृत मानहु मोहन, करि ल्याऊँ मनुहारि ;
'सूर' रसिक तबहीं पै बदिहौं, मुरली सकहु सम्हारि।"

नख-शिख। पूर्वोक्त दोनो पदों में कवि की नख-शिख-वर्णन करने की योग्यता भी प्रकट होती है।

प्रबंध-ध्वनि। गोस्वामी तुलसीदास की भाँति इन महाराज ने भी अपनी कविता में पुराने आख्यानों और कथाओं का संकेत बहुत स्थानों पर किया है।

सूरदास की कविता का प्रधान गुण एक यह भी है कि यह महाराज प्रत्येक वस्तु का बहुत सांगोपांग वर्णन करते हैं। यह जिस बात का वर्णन विस्तार-पूर्वक कर देते हैं, उसमें फिर औरों के लिये बहुत कम भाव रह जाते हैं। या तो यह बहुत सूक्ष्म वर्णन करते हैं, या पूर्ण विस्तार के साथ। इनके सविस्तर वर्णन कर देने पर अन्य साधारण कवियों को उसी विषय पर कुछ लिखने में अवांछित भी इनके भाव लेने पड़ते हैं, क्योंकि ऐसी दशा में यह महाकवि नए भावों के लिये जगह छोड़ ही नहीं रखते।

सबसे प्रथम जो बहुत उत्कृष्ट वर्णन सूरदास ने किया है, वह कृष्ण की बाल-लीला का है। जैसा उत्तम और सच्चा बाल-चरित्र इस महाकवि ने लिखा है, वैसा संसार-भर के किसी ग्रंथ में हम लोगों ने अद्यावधि नहीं देखा। माता से माखन माँगा जाना, माता द्वारा बालक का लालन-पालन होना, माता का खीझना, चोटी बढ़ने के बहाने दूध पिलाना, चंद्र के विषय में झगड़ा, राम की कथा माता द्वारा सुनाई जाना इत्यादि वर्णन ऐसे सच्चे ढंग से किए गए हैं कि जान पड़ता है, सचमुच कोई बालक माता के पास खेल रहा है।

इसके उदाहरण-स्वरूप किस छंद को हम लिखें ? पूरा वर्णन पढ़ने से ही इसका स्वाद मिल सकता है । ज्यों ही माता ने कहा—"कजरी का पय पियहु लाल, तव चोटी बाढ़ै" त्यों ही बालक ने तुरंत दूध पीकर पूछा—"मैया, कबहिं बढ़ैगी चोटी ? किती बार मोहिं दूध पियत भइ, यह अजहूँ है छोटी ।"

बाल-लीला के पश्चात् इन महाकवि ने माखन-चोरी का वर्णन बड़ा ही हृदय-ग्राही किया है । माखन-चोरी भी ऐसी कही है, मानो कोई सचमुच गोपिकाओं को खिझा रहा हो । यशोदा के पास उलहना आना, उनका गोपिकाओं के कथन पर प्रतीति न करनी, एवं पुत्र से इनकार सुनकर क्रोध करने के स्थान पर हर्ष-मग्न हो जाना बड़े ही स्वाभाविक रीति से कहे गए हैं । फिर बहुत अधिक आरोप सुनकर माता का कुछ क्रोध करना, बालक को समझाना, और फिर यह सुनकर कि कृष्ण ने माखन चुराया, एवं गोपी के लड़के को भी मारा-पीटा है, उन्हें रस्सी से ऊखल में बाँध देना, ये सब बातें अत्यंत स्वाभाविक रीति से लिखी गई हैं ।

ऊखल में बाँधने पर जब-जब बालक रोया, तब-तब माता ने इस बात पर बड़ा ज़ोर दिया कि वह चोर था । चोरी पर ऐसे समय में ज़ोर देना बड़ा ही स्वाभाविक है, और वह प्रकट करता है कि एक ही बालक होने तथा उसे प्राणों से अधिक चाहने पर भी यशोदा बेजा काम देखकर अदूरदर्शिनी माताओं की भाँति चुप न बैठकर कड़ा दंड देती थीं । माखन-चोरी-लीला का भी वर्णन अत्यंत रोचक और स्वाभाविक है ।

ऊखल-बंधन के पश्चात् कालिय-दमन, दावानल-पान और चीर-हरण के भी बड़े ही विशद वर्णन हैं । उद्धृत करने से पुस्तक का कलेवर बहुत बढ़ जायगा, अतः हम यहाँ कोई छंद नहीं लिखते । ये वर्णन देखने ही योग्य हैं । सूरदास ने भोजन के वर्णन अनेक बार

किए हैं। भोज्य वस्तुओं में आप दुष्पच वस्तुओं की बहुतायत रखते हैं। उनमें सघृत वस्तुओं का प्राधान्य रहता है।

इसके पीछे रास-लीला, मान एवं मान-मोचन के भी वर्णन बड़े ही अच्छे हैं; विशेषकर जो बड़ा मान और मान-मोचन वर्णित है, उससे प्रकट होता है कि वाल्मीकि की भाँति यह महाकवि एक ही विषय को कितनी दूर तक और कितनी उत्तमता से कह सकता है, अथच महाभक्त होने पर भी शृंगार-रस के निगूढ़ विषयों का इनको कितना सच्चा ज्ञान है? यह कहना पड़ेगा कि माखन-चोरी और रास-विलास के वर्णन इतने विस्तृत हो गए हैं कि यह नहीं कहा जा सकता कि यह केवल शृंगार-रस का वर्णन करनेवालों की रचना की भाँति कोरा काव्य-मात्र है, या किसी कथा का अंग भी। यदि कोई केवल कथा-प्रसंग जानने के विचार से इसे पढ़ने बैठे, तो उसका जी अवश्य उकता जाय, परंतु वास्तव में ये वर्णन बड़े ही विशद और सच्चे हैं। केशवदास, दास इत्यादि की भाँति इन्होंने अपनी कविता में अन्य कवियों की कविताओं से उठा-उठाकर उल्था नहीं रक्खा है, न किसी ऐसे विषय को विस्तार से कहा ही है, जिसमें इन्हें पूर्ण योग्यता और सहृदयता न होती। अतः इस कविता में जहाँ कहीं विस्तृत वर्णन हैं, वहीं वे सच्चे, असली ख़ास सूरदास के भावों से भरे हैं, और इसी कारण इन कविवर ने सच्चे पाठकों से ऐसे-ऐसे वचन कहला ही लिए कि—

"सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केसवदास ;
अब के कबि खद्योत-सम जहँ-तहँ करत प्रकास।"
"कबिता-करता तीनि हैं, तुलसी, केसव, सूर ;
कबिता-खेती इन लुनी, सीला बिनत मँजूर।"
"तत्त्व-तत्त्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी
बची-खुची कबिरा कही, और कही सब झूठी।"

"किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर ,
किधौं सूर को पद लग्यो, तन-मन-धुनत सरीर।"

अंतिम दोहा तानसेन ने बनाकर सूरदास को सुनाया था। इसके उत्तर में सूरदास ने निम्न-लिखित दोहा पढ़ा—

"बिधना यह जिय जानिकै, सेसहि दिए न कान ;
धरा, मेरु, सब डोलतो, तानसेन की तान।"

सूरदास इतने सच्चे और यथार्थ-भाषी कवि थे कि इनकी कविता में असंभव पदार्थों का कथन बहुत कम पाया जाता है, अर्थात् किसी असंभव घटना का होना इन्होंने नहीं कहा। "बिंध्य लगि बाढ़िबो उरोजन को पेखो है" की भाँति के कथन इन सच्चे कवि को नहीं भाते थे। इस यथार्थ-भाषण के प्रतिकूल हम श्रीकृष्णचंद्र के संबंध में ऐसी कथाओं का वर्णन, जो अब असंभव ज्ञात होती हैं, प्रमाण-स्वरूप नहीं मानते ; क्योंकि वे उस कथा के अंग हैं, जिसे यह कवि कहने बैठे हैं।

सूरदास ने स्थान-स्थान पर नायिका-भेद भी लिखा है, परंतु कविता-रीति के नियमानुसार उसे न लिखकर जिस दशा के पीछे स्वाभाविक रीति पर जो दशा होनी है, उसी का वर्णन, कथा-प्रसंग की भाँति, इन्होंने किया है, और जिस नायिका का प्रसंग चलाया, उसका अपनी विस्तारकारिणी प्रकृति के अनुसार कुछ देर तक वर्णन किया। इन्होंने सब नायिकाओं का वर्णन न करके बहुत कम का किया है, परंतु जो कुछ कहा है, वह परम मनोहर है।

इन सब कथाओं के पीछे इन महाकवि ने श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन का वर्णन बड़ा ही हृदय-ग्राही किया है। यदि कहा जा सकता हो कि अमुक कवि ने 'क़लम तोड़ दी,' तो हम अवश्य कहेंगे कि व्रज-विरह-वर्णन में इन महाकवि ने सचमुच क़लम तोड़ दी है। उद्धव-संवाद और कृष्ण-मथुरा-गमन को पढ़कर जान पड़ता है कि सूरदास

वियोग-शृंगार के कथन में बड़े ही पटु थे। वियोग का वर्णन किसी दूसरे कवि ने ऐसा बढ़िया और स्वाभाविक नहीं किया। इस विषय में भी कोई छंद उदाहरणार्थ लिखना हम उचित नहीं समझते, क्योंकि एक रोएँ से सिंह का अनुभव नहीं कराया जा सकता। वियोग-वर्णन में आपने राधा का नाम बहुत नहीं लिया।

उद्धव-संवाद भी बहुत ही विस्तृत रूप से कहा गया है। यह भी आद्योपांत प्रेमालाप से भरा हुआ है, और ऐसा कोई भाव न बचा होगा, जो इसमें न आ गया हो। इसमें बड़े ही प्रशंसनीय पद मिलते हैं।

उद्धव-संवाद में गोपियों ने कहीं-कहीं ज्ञान को व्यर्थ माना है, और कहीं-कहीं अपनी योग्यता के लिये बहुत ऊँचा। निर्गुणोपासना का खंडन अवतार के सिद्धांत को ठीक मानकर किया गया है, जो तार्किक सिद्धांतों के प्रतिकूल है। सगुणोपासना के उत्तर में उद्धव से जो कथन कराए गए हैं, वे ऐसे निर्जीव हैं, मानो कोई थका हुआ व्यक्ति बोझ उतार रहा हो। निर्गुणोपासना के साथ न्याय नहीं हुआ है। निर्गुण-सगुण का कुछ ब्योरा कबीर के कथन में मिलेगा। अंत में उद्धवजी भी ज्ञान भूलकर प्रेम-मग्न हो गए, और प्रेमियों की भाँति कृष्ण के विहार-स्थल देखते फिरे। उसके पीछे इन्होंने यदुपति के पास जाकर गोपियों की बड़ी सिफ़ारिश (शंसा) की।

अन्य राजों की कथा एवं युद्ध इत्यादि वर्णन करने का प्रयत्न इन सच्चे कवि ने, इन विषयों से सहृदयता न होने के कारण, नहीं किया; और जहाँ किया भी, वहाँ वह अच्छा नहीं बना। महात्मा सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास में यही अंतर है। गोस्वामीजी ने कुल बातों का वर्णन अच्छा और अपने मुख्य विषयों का बड़ा ही विशद किया है; किंतु महात्मा सूरदास ने अपने प्रिय विषयों का वर्णन ऐसा किया है, जैसा गोस्वामीजी या संभवतः किसी भाषा का कोई कवि

नहीं कर सका, परंतु साधारण विषयों का कथन साधारण कवियों से भी बुरा किया है। इनको अच्छे प्रकार से कहने का इन्होंने प्रयत्न ही नहीं किया। इसी कारण सूरसागर के इधर-उधर दो-चार पृष्ठ पढ़नेवाले इन्हें साधारण कवि समझ सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति इनके विशद वर्णन संग्रह करके रामायण की इतनी पोथी निकाल ले, तो उसके देखने से सूरदासजी की कविता का पूरा आनंद मिल सके। हाल में सूर-सुधा-नामक एक ऐसा ही संग्रह हमने बनाया है, जो मनोरंजन-पुस्तकमाला में प्रकाशित हो चुका है। प्रीति और सत्संग आपने अच्छे कहे हैं।

यद्यपि सूरदास स्वयं श्याम के भक्त थे, तथापि उन्होंने गोपियों के मुख से काले रंग की ख़ूब निंदा कराई है, और अंत-पर्यंत किसी स्थान पर भी तुलसीदास की भाँति कोई सिफ़ारिशी छंद नहीं लिखा। वे कहती थीं—

"सखी री, स्याम सबै इकसार ;
मीठे बचन सोहाए बोलत, अंतर-जारनहार ;
❀ ❀ ❀
भवर, कुरंग, काग अरु कोकिल, कपटिन की चटसार !"
"सखी री, स्याम कहा हितु जानैं ?
कोऊ प्रीति करो कैसे हूँ, वह अपने गुन ठानैं।
देखो या जलधर की करनी, बरषत पोषै आनैं ;
'सूरदास' सरबसु जो दीजै, कारो कृतहि न मानैं।"
"ऊधो, कारे सबहि बुरे।"

इससे ज्ञात होता है, सूरदास ऐसे संकीर्ण-हृदय न थे कि यदि उनका कोई नायक या उपनायक स्वयं उनकी भावना के प्रतिकूल कुछ कहता, तो उनसे, गोस्वामी तुलसीदास की भाँति, विना अपनी सम्मति प्रकट किए न रहा जाता। अँगरेज़ी में ऐसे कवियों को सर्वव्यापिनी दृष्टि के

कवि (Poets of general vision) कहते हैं। सूरदास इसी प्रकार के कवि थे। भाषा-साहित्य में सूरदास, तुलसीदास और देव, ये सर्वोच्च तीन कवि हैं। इनमें न्यूनाधिक बतलाना मत-भेद से ख़ाली नहीं। अतः सूरदास की गणना भाषा के तीन सर्वोच्च कवियों में है। हम लोगों का अब यह मत है कि हिंदी में तुलसीदास सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। इन्हीं के पीछे सूर का नंबर आता है, और तब देव का। महात्मा सूरदास हिंदी के वाल्मीकि हैं। वाल्मीकि ही के समान यह हिंदी के प्राचीन महाकवि हैं, और इन्हीं के समान इनके भी वर्णन पूर्ण, बड़े और सर्वांग-सुंदर होते हैं।

महात्मा कबीरदास

आप जाति के जोलाहे प्रायः सं० १४५५ से १५७५ तक हो गए हैं। काशी-वासी नीमा-नीरू के पुत्र थे। मुसलमान होकर भी स्वामी रामानंद के शिष्य हुए। माला-कंठी धारण करके राम-नाम जपते थे। लोई नाम्नी एक संत-कन्या से विवाह हुआ, जिससे आपके कमाल-कमाली पुत्र-कन्या हुईं। शैख़ तक़ी सूफ़ी तथा जौनपुर के पीर से भी आपका व्यवहार था। मानस-बल में भीम थे। हिंदू-मुसलमानों के ऐक्य को चाहते थे। उपदेश तीव्र शब्दों में करते थे। दोनो मतों के दोषों को सहठ दिखलाते थे। निंदा दोनो की करते थे, विशेषतया हिंदुओं की। इसी प्रकार दोनो के उचित विचार मानते थे, मुख्यतः हिंदुओं के। कहते थे—

निर्गुन की सेवा करो, सर्गुन का कर ध्यान ;
निर्गुन सर्गुन के परे तहाँ कबीरा न्यान।

विशेषतया निर्गुणवादी थे, किंतु भक्ति सगुण की भी बतलाते थे। आपके ईश्वर में भक्ति के योग्य विशेष सामग्री न थी। इसीलिये उलटवाँसी बहुत कहते थे। हमारे सत्कवियों में इनके बराबर ऊँचा ईश्वरीय विचार और किसी ने नहीं कहा। प्रतीकोपासना की हर प्रकार से निंदा करते थे। राम-भजन को भी रंकार-मूलक बतला, उसे अवतार से हटाकर परमात्मा की ओर ले गए। इनके उपदेश भारी पंडितों तथा बहुत साधारण लोगों को पसंद आ सकते हैं,

बीचवालों को नहीं। ग्रंथ बहुत अधिक हैं। कुछ संदिग्ध भी हैं। बीजक, साखी और रमैनी आपके मुख्य ग्रंथ हैं। गोरख-पंथ से कबीर-पंथ कुछ मिलता है। इसमें यौगिक क्रियाओं तथा चरित्र-संशोधन की विशेषता है। हिंदू-मुसलमान, दोनो के कुछ नियम इसमें हैं। समय के साथ (कबीर के पीछे) हिंदुवानी विचार बढ़ते और मुसलमानी घटते रहे। प्रभाव समाज पर आपके साधारण उपदेशों द्वारा अच्छा पड़ा, किंतु पंथ के रूप में समाज के उच्च भागों में वे चल न सके। गोरख और कबीर-पंथों से समाज के निम्न (कहलाए जानेवाले) भागों में उमंग-वृद्धि द्वारा बल से बढ़नेवाले मुस्लिम-धर्म का कुछ अवरोध हुआ। आपने यौगिक ज्ञान का अद्वैत और सूफ़ी विचारों से मिलाकर उपदेश दिया। रचना में खड़ी बोली, बिहारी, बनारसी तथा अवधी भाषाएँ पाई जाती हैं। सं० १५७२ में मगहर चले गए, और तीन वर्ष पीछे वहीं से स्वर्ग सिधारे। महात्मा तुलसीदास के पीछे उत्तरी भारत में आप ही के उपदेश-पूर्ण छंदों ने सबसे अधिक प्रभाव डाला। भारी लोक-स्वीकृति, परमोच्च उपदेश, उलटवाँसी, ऊँचा चरित्र-बल, मानसिक महत्ता, पैग़ंबरों-सा स्थान, अपूर्व निर्भयता, देश-प्रेम आदि के कारण आपका पद हिंदी-कवियों में बहुत उच्च है। साहित्य भी परमोत्कृष्ट तथा पांडित्य-पूर्ण बनाते थे। भाव-सबलता के आगे भाषा कुछ दबी हुई अवश्य थी, किंतु कुल मिलाकर अनमोल कवि थे।

कबीर साहब जो कपड़ा बनाकर बेचने ले जाते थे, उसे कभी-कभी बेचने के स्थान पर साधुओं को दे देते, और ख़ाली हाथ घर लौट आते थे। ऐसे पुरुष को पुत्र की धन पर आसक्ति बुरी लगा ही चाहे।

कबीर साहब ने देश-देश घूमकर लौकिक ज्ञान का उपाजन

किया। आप बलख़ तक गए। सत्य के इतने पक्षपाती थे कि जो बात आपको असत्य जँचती थी, उसकी तीव्र शब्दों में आलोचना अवश्य करते थे, चाहे इनके मत से उससे थोड़ा ही-सा अंतर क्यों न हो। आप स्वयं संत और योगी थे, किंतु गृह-त्याग को पसंद न करने के कारण ऐसे लोगों की आपने निम्न-लिखित शब्दों द्वारा निंदा की है—

"कनवा फराय जोगी जटवा बढ़ौलै,
दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गैले बकरा;
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौलै,
काम जराय जोगी बनि गैले हिजरा।"

इसी भाँति हिंदू और मुसलमानों के सैकड़ों धार्मिक आचार-विचारों पर आपने शुद्ध भाव से तीव्र कटाक्ष किए हैं। "झूठा रोज़ा, झूठी ईद"-जैसे वाक्य आपके मुख पर सदैव रहते थे। इन कारणों से बादशाह सिकंदर लोदी तक आपकी शिकायत पहुँची, और उसने इन्हें ज़ंजीरों से बधवाकर गंगाजी में फिकवा दिया, किंतु यह किसी प्रकार बच गए। आपने स्वयं लिखा है—

"गंग-लहर मेरी टूटी जजीर; मृगछाला पर बैठे कबीर।
कहु कबीर कोउ संग न साथ; जल-थल राखत हैं रघुनाथ।"

इनके माहात्म्य-विषयक बहुत-से अन्य उपाख्यान भी प्रचलित हैं, जिनमें अप्राकृतिक घटनाओं का कथन है। उनका यहाँ समावेश नहीं किया जाता। धार्मिक विरोध से ही समझ पड़ता है कि अंत में आपको अपने जन्म-स्थान तथा आजन्म के निवास-स्थान काशी को छोड़ना पड़ा।

कबीर साहब के बहुत-से शिष्य उनके जीवन-काल ही में हो गए थे। उनके पीछे कबीर-पंथ अब तक चल रहा है। भारत में अब भी आठ-नव लाख मनुष्य कबीर-पंथी हैं। इनमें मुसलमान

बहुत थोड़े हैं, और हिंदू बहुत अधिक । इनका मान रीवाँ-नरेश ने बहुत किया । रीवाँ-नरेश महाराजा विश्वनाथसिंह ने बीजक की टीका भी रची । कबीरदास के पीछे इनके मत की बारह शाखाएँ स्थापित हुईं, जिनके नेता निम्न-लिखित थे—श्रुतगोपाल, भग्गूदास, नारायणदास, चूड़ामणिदास, जग्गूदास, जीवनदास, कमाल, टाकशाली, ज्ञानी, साहबदास, नित्यानंद और कमलानंद । कबीर-पंथियों में त्यागी और गृहस्थ, दोनो हैं । इनका कोई दूसरा धर्म नहीं, वरन् हिंदू कबीर-पंथी हिंदू हैं, और मुसलमान कबीर-पंथी मुसलमान । कबीर-पंथ उनका विश्वास-मात्र है । हिंदू कबीर-पंथी अधिकतर नीच जातियों के हैं, और इस पंथ के कई गुरु भी वैसे ही हैं । वास्तव में तो कोई नीच जाति है ही नहीं, और सब हिंदू बराबर हैं, किंतु जैसा लोग प्रायः समझते हैं, उन विचारों से समझने-भर को हिंदुओं में यहाँ ऊँची-नीची जातियों के कथन किए गए हैं ।

कबीरदास ने स्वयं ग्रंथ नहीं लिखे, वरन् केवल मुख से भाखे । इनके शिष्यों ने इन्हें लिपि-बद्ध किया । ऐसी दशा में उनमें बहुत कुछ अदल-बदल हो जाना संभव है । बीजक-ग्रंथ को भग्गूदास लेकर भागे थे । तभी से इनका नाम भगवानदास से भग्गूदास हो गया । विचार किया जाता है कि जब भग्गूदास ग्रंथ लेकर भागे थे, तब इन्होंने इसमें बहुत कुछ घटाया-बढ़ाया होगा । वेस्कट महाशय का विचार है कि इस बात पर विश्वास करने के लिये दलीलें हैं कि कबीर की अधिकतर शिक्षाएँ धीरे-धीरे हिंदू-धर्म के साँचे में ढल गई हैं । हमको समझ पड़ता है कि कुछ घटाने-बढ़ाने से इन महात्मा के उपदेशों में अंतर डालना कठिन था । आपने एक ही विचार को सैकड़ों प्रकार से कहा है, और सबमें एक भाव प्रतिध्वनित होता है । आप राम-नाम की महिमा गाते, एक ही ईश्वर को मानते, कर्मकांड के घोर विरोधी और सखी-भाव के अविचल भक्त थे । अवतार, मूर्ति, रोज़ा, ईद,

मसजिद, मंदिर आदि को यह नहीं मानते थे। अहिंसा, मनुष्य-मात्र की समता तथा संसार की असारता को इन्होंने बार-बार गाया है। यह उपनिषदों के विचारवाले ईश्वर को मानते थे, और प्रत्यक्ष कहते थे कि वही शुद्ध ईश्वर है, चाहे उसे राम कहो या अल्ला। ऐसी दशा में शिष्यों द्वारा पाठ-परिवर्तन से इनकी शिक्षाओं का भाव उलटा नहीं जा सकता था। उन्हें उलटने के लिये इनके पूरे ग्रंथ लुप्त कर देने और नए बनाने पड़ेंगे।

थोड़ा-सा उलट-पुलट करने से केवल इतना फल हो सकता था कि राम-नाम अधिक न होकर सत्य-नाम अधिक हो। यह निश्चित बात है कि यह राम-नाम और सत्य-नाम, दोनो को भजनों में रखते थे। इन शब्दों के व्यवहार की मात्राओं में थोड़ा-सा घट-बढ़ हो जाने से शिक्षा उलट नहीं सकती। इसी प्रकार कुछ बदलने से दो-चार स्थानों पर प्रतिकूल शिक्षाएँ दिखाई जा सकेंगी, किंतु और कोई अंतर न पड़ेगा। प्रतिमा-पूजन इन्होंने निंदनीय माना है। अवतारों का विचार सदा त्याज्य लिखा है। दो-चार स्थानों पर कुछ ऐसे शब्द हैं, जिनसे अवतार-महिमा भी व्यक्त होती है। वे हमारी समझ में अवश्य प्रक्षिप्त हैं। कबीर साहब के मुख्य विचार उनके ग्रंथों में सूर्यवत् चमक रहे हैं। उन्हें कोई बदल नहीं सकता। असली विरोध हमको केवल आवागमन-सिद्धांत पर समझ पड़ता है, और यह नहीं जान पड़ता कि इस विषय में वह हिंदू-मत को मानते थे कि मुसलमानी मत को। अन्य बातों पर कोई वास्तविक विरोध कबीर की शिक्षाओं में नहीं देख पड़ता। इसलिये हमको समझ पड़ता है कि उन लोगों के विचारों में कोई सार नहीं, जो समझते हैं कि लिपि-बद्ध न होने के कारण कबीरदास की वास्तविक शिक्षाएँ हमको उपलब्ध नहीं हैं।

ईश्वर

कबीर साहब ने अपने ग्रंथों में सबसे अधिक ईश्वर का वर्णन

। इसलिये इनके ईश्वर-संबंधी विचार-प्रदर्शक कुछ छंद यहाँ
ते हैं--

मोको कहाँ ढूँढ़ता बंदे, मैं तो तेरे पास में ;
ना मैं छगरी, ना मैं भेड़ी, ना मैं छुरी-गँड़ास में ।
नहीं खाल में, नहीं पूँछ में, ना हड्डो, ना माँस में ;
। मैं देवालय, ना मैं मसजिद, ना काबे-कैलास में ।
ना तो कौनो क्रिया-कर्म में, नहीं जोग-बैराग में ;
बोजी होय, तो तुर्तै मिलिहौं पल-भर की तालास में ।
मैं तो रहौं सहर के बाहर मेरी पुरी मवास में ;
कहैं 'कबीर' सुनो भइ साधो, सब साँसों की साँस में ।
कहूँ उस देस की बतियाँ ; जहाँ नहिं होत दिन-रतियाँ ।
नहीं रवि, चंद औ तारा ; नहीं उजियार - अँधियारा ।
नहीं तहँ पौन औ पानी ; गए वहि देस जिन जानी ।
नहीं तहँ धरनि-आकासा ; करे कोइ संत तहँ बासा ।
जहाँ गम काल की नाहीं ; तहाँ नहिं धूप औ छाँहीं ।
न जोगी जोग से ध्यावै ; न तपसी देह जरवावै ।
सहज में ध्यान से पावै ; सुरत का खेल जेहि आवै ।
सुहंग नाद नहिं भाई ; न बाजै संख - सहनाई ।
नेहछर जाप तहँ जापै ; उठत धुन सुन्न से आपै ।
मंदिर में दीप बहु बारी ; नयन बिन भई अँधियारी ।
कबीरा' देस है न्यारा ; लखै कोइ नाम का प्यारा ।
ताकर कौन रूप औ रेखा ; दूसर कौन आइ जो देखा ।
ओ ओंकार आदि नहिं बेदा ; ताकर कहूँ कौन कुल भेदा ।
सुन्न सहज मन सुमरि ते प्रकट भई एक जोत ;
ताहि पुरुष की मैं बलिहारी निरालंब जो होत ।
होत पवन नहिं पानी ; तहिया सृष्टि कौन उतपानी ।

तहिया होत कली नहिं फूला ; तहिया होत गर्भ नहिं भूला ।
तहिया होत बिद्या नहिं बेदा ; तहिया हुते सब्द नहिं स्वादा ।
तहिया हुते पिंड नहिं बासू ; नहिं घर, धरनि, न पवन अकासू ।
तहिया होत गुरू नहिं चेला ; गम्य, अगम्य न पंथ दुहेला ।
अविगति की क्या गति कहौं, जाके गाँव न ठाँव ;
गुनो बिहूना पेखना, का कहि लीजे नाँव ।

(४) साहब मेरा एक है, दूजा कहा न जाय ;
दूजा साहब जो कहूँ, साहब खरा रिसाय ।
एक कहौं तो है नहीं, दोय कहौं तो गारि ;
है जैसा तैसा अहै, कहै 'कबीर' बिचारि ।
चार भुजा के भजन में भूलि परे सब संत ;
'कबिरा' सुमिरै ताहि को, जेहि की भुजा अनंत ।
सरगुन की सेवा करो, निरगुन का करु ज्ञान ;
निरगुन सरगुन के परे रहै हमारा ध्यान ।
साहिब सों सब होत है, बंदे ते कछु नाहिं ;
राई ते परबत करै ; परबत राई माहिं ।

(५) संतो बीजक मत परमाना ;
कैयक खोजी खोजि थके, कोइ बिरला जन पहिचाना ।
कोइ निरगुन-सरगुन ठहरावै, कोई जोति बतावै ;
नाम धनी का सब ठहरावै, रूप को नहीं लखावै ।
कोउ सूछम असथूल बतावै, कोउ अच्छर निज साँचा ;
सतगुरु कहँ बिरला पहिचानै, भूला फिरै असाँचा ।
दिखै पंथ, मिलै नहिं पंथी, ढूँढ़त ठौर-ठिकाना ;
कोउ ठहरावै सून्यक कीन्हा जोति एक परमाना ।
पच्छ, अपच्छ, सबै पचि हारे, करता कोइ न बिचारा ;
कौन रूप है साँचा साहब, नहिं कोई निरधारा ।

कबीरदास ने थोड़े में बहुत कुछ कहा है। चहुँदल कमल, तिरपुटी, सेत सुन्न, षट्दलकमल, भँवरगुफा, मुरली (अनहद नाद), प्रतिबिंब (जीव), पिंड (शरीर), पार (परे, परब्रह्म) आदि योग तथा वेदांत-संबंधी शब्द हैं, जो कबीर का इन शास्त्रों का ज्ञान प्रकट करते हैं। ररंकार से रम्-रम् आकार अर्थात् राम-राम का प्रयोजन है। इसमें योग-संबंधी नादवाले विचार भी आ जाते हैं। निर्गुण, सगुण, ज्योति, सूक्ष्म, स्थूल, अक्षर (अविनाशी), अगम, अगोचर, रेख-रूप आदि भी ईश्वर-संबंधी पक्षापक्ष-विचारों में आए हैं। इनमें बहुत-से अभावात्मक विचार हैं, और उनके संबंध में भावात्मक शब्द पक्षापक्ष-विचार में दिखाए गए हैं। मुख्यता अभावात्मक (Negative) विचारों की ही रही है। परमदयालु, परमपुरुषोत्तम से सगुणवाद चल पड़ता है, कर्ता में सबका होना और सबमें कर्ता का होना अद्वैत विचार दिखलाता है। इन शब्दों से कबीरदास की बहुज्ञता प्रकट होती है। साहित्य-गौरव में भी ऐसे पद बहुत अच्छे हैं।

नहिं निरगुन, नहिं सरगुन भाई, नहिं सूछम-अस्थूल ;
नहिं अच्छर, नहिं अबिगत भाई, ये सब जग की भूल।
जहाँ करम की गति कछु नाहीं, कह 'कबीर' हम जाना ;
हमरी सैन लखै जो कोई, पावै पद निरबाना।
सहज कमल में झिलमिल दरसै, आपुइ बसत अपारा ;
जोति-सरूप, सकल जग ब्यापी, अघट पुरुष है पारा।
सुन्न सहर में बास हमारा, जहँ सरबंगी जावै ;
साहब 'कबिर' सदा के संगी, सब्द महल लै आवै।
किंगरी सारँग बजै सितारा, अच्छर ब्रह्म सुन्न दरबारा ;
द्वादस भानु उए उजियारा, खटदल कँवल मँझार सब्द ररँकारा है।
कोटिन भानु उदय जो होई, एते ही पुन चंद्र लखोई ;
पुरुष रोम सम एक न होई, ऐस पुरुष दीदारा है।

प्रथम एक जो आदौ आप, निराकार, निरगुन, निरजाप ;
नहिँ तब भूमि, पवन, आकासा, नहिँ तब पावक नीर निबासा।
कहै 'कबीर' बिचारि कै, जाके बर्न न गाँव ;
निराकार औ निर्गुना है पूरन सब ठाँव।
आगे सून्य, स्वरूप अलख नहिँ लखि परै ;
तत्त्व निरंजन जान, भरम जनि चित धरै।
जाके दरसन साहब दरसै अनहद सबद सुनावै ;
माया के सुख दुख करि जानै सरगुन सुपन चलावै।
पूरि रह्यो असमान, धरनि मैं, जित देखो, तित साहब मेरा ;
तसबी एक दिया मेरे साहब, दास 'कबीर' दिलहि दिल फेरा।

अनहद नाद (ईश्वर-संबंधी)

पाँच तत्त्व कर पूतरा, जुक्ति रची मैं कीव ;
मैं तोहिँ पूछौं पंडिता, सब्द बड़ा की जीव।
सत्त सब्द परमान, अनहद बानी जो दहै ;
और झूठ सब ज्ञान, कहै 'कबीर' बिचारि कै।

अद्वैत (ईश्वर-संबंधी)

तत्त्वमसी इनके उपदेसा ; ई उपनिषत कहैं संदेसा।
दया कौन पर कीजिए, का पर निर्दय होय ;
साँई के सब जीव हैं कीरी कुंजर दोय।
बीज मध्य ज्यों बिरछा दरसै, बिरछा मद्धे छाया ;
परमातम में आतम तैसे, आतम मद्धे माया।
ज्यों नभ मद्धे सुन्न देखिए, सुन्न अंड आकारा ;
निहअच्छर ते अच्छर तैसे, अच्छर छर बिस्तारा।
ज्यों रबि मद्धे किरन देखिए, किरन मध्य परकासा ;
परमातम में बीज ब्रह्म इमि, जीव मध्य तिमि स्वासा।

स्वासा मद्धे सबद देखिए, अर्थ सबद के माहीं ;
ब्रह्म ते जीव, जीव ते मन, इमि न्यारा, मिला सदाहीं ।
आपहि बीज, बृच्छ, अंकूरा, आप फूल, फल, छाया ;
आपहि सूर, किरन, परकासा, आप ब्रह्म, जिव, माया ।
अंडाकार सुन्न नभ आपै, स्वास सबद अरथाया ;
निहअच्छर अच्छर छर आपै, मन जिव ब्रह्म समाया ।
आतम में परमातम दरसै, परमातम में झाँई ;
झाँई में परछाँई दरसै, लखै 'कबीरा' साँई ।
ज्ञान के कारन करम कमाय ; होय ज्ञान तब करम नसाय ।
फल-कारन फूलै बनराय ; फल लागे पर फूल सुखाय ।
मिरग पास कस्तूरी बास ; आपु न खोजै खोजै घास ।
पारै पिंड मीन लै खाई ; कहैं 'कबीर' लोग बौराई ।
साधो एक आपु जग माहीं ;
दूजा करम भरम है किरतिम, ज्यों दरपन में छाहीं ।
जल-तरंग जिमि जल ते उपजै, फिरि जल माहिं रमाई ;
काया झाईं पाँच तत्व की बिनसे कहाँ समाई ।
चोट कापै करौं, उलटि आपै डरौं, जहाँ देखों, तहाँ प्रान मेरा ।
भजूँ, तो को है भजन को, तजूँ, तो को है आन ;
भजन-तजन के मध्य में सो 'कबीर' मन मान ।
वह तत यह तत एक है, एक प्रान, दुइ गात ;
अपने जिय ते जानिए मेरे जिय की बात ।

उपर्युक्त छंदों में महात्मा कबीर के ईश्वर-संबंधी विचारों का सारांश लिखा गया है । इन पर विचार करने के पूर्व इस विषय से मिलते-जुलते, उपनिषदों आदि में लिखित, हिंदू-सिद्धांतों का कुछ कथन आवश्यक समझ पड़ता है । ईश्वर की पूजा एक साकार रूपादि-संबंधी है, और दूसरी निराकार अलख की । इन्हें, दार्शनिक

शब्दों में, व्यक्त और अव्यक्त-मार्ग कहते हैं। उपासक मनुष्य भी दो प्रकार के होते हैं—एक वे, जो मुख्यतया केवल ज्ञान से काम लेते हैं, और दूसरे वे, जो प्रेम की प्रधानता रखते हैं। ये दो शुद्ध तार्किक विभाग हैं। वास्तव में प्रत्येक मनुष्य ज्ञान और प्रेम, दोनो रखता है। उपासक लोगों में अंतर इतना ही रहता है कि बुद्धि तथा प्रेम की मात्राएँ उनमें घट-बढ़ रहती हैं, अर्थात् किसी में प्रेम की न्यूनाधिक प्रधानता रहती है, और किसी में बुद्धि की। ऋषियों ने पृथक्-पृथक् स्वभाववाले मनुष्यों के योग्य पृथक्-पृथक् विद्याएँ रची हैं, जिन्हें उपासना भी कहते हैं। ये निर्गुणात्मिका तथा सगुणात्मिका होती हैं। इनके दो-दो भाग हैं—सात्त्विक तथा राजस।

राजस में कुछ-न-कुछ स्वार्थ लगा ही रहता है, किंतु सात्त्विक में नहीं। इसीलिये उपनिषद् राजसिक विद्याओं का वर्णन न करके सात्त्विक विद्याओं का करती हैं। सात्त्विक उपासना दो प्रकार की होती है—अहंग्रह और प्रतीक। प्रतीक शब्द प्रतिमा से संबंध रखता है, और अहंग्रह आत्मा से। अद्वैत-वाद का मूलाधार 'तत्त्वमसि' (वह तू है) है। यहाँ वह से प्रयोजन ईश्वर का है, और तू से जीवात्मा का। इस वाक्य का लक्ष्य ब्रह्म है। बृहदारण्यक में 'अयमस्मि' से यही भाव निकलता है। अद्वैत-वाद दोनो को एक मानता है, और ऐसा मत प्रकट करता है कि जीवात्मा का अविद्या-जन्य अहंकार ही उसे दिखलाने-भर को परमात्मा से पृथक् करते हुए समझ पड़ता है। अद्वैत-वाद में प्रकृति या जीवात्मा सत् नहीं है; जो है, सो परमात्मा-ही-परमात्मा है। यह वाद उपनिषदों से निकलता है, और शंकराचार्य ने इसे पुष्ट किया है। विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत-नामक चार और प्रधान मत हैं, जो ईश्वर के अतिरिक्त जीवात्मा तथा प्रकृति को न्यूनाधिक रीति से

सत् अथवा सत् के समान मानते हैं। मानुष-शरीर में सोलह चक्र माने गए हैं, जिनका योग-शास्त्र से संबंध है। योग में अभ्यास की प्रधानता है। अभ्यास ही से योगी की अधिकाधिक वृद्धि होती है। योगी समाधि में जो कुछ देखता या सुनता है, उससे इस वृद्धि की जाँच करता है। इसी देखने और सुनने का संबंध ईश्वर-संबंधी ज्योति और अनहद नाद से है। जब समाधि की अवस्था में योगी की चौदहो इंद्रियाँ निश्चल हो जाती हैं, अर्थात् वह पाँचो ज्ञानेंद्रियों, पाँचो कर्मेंद्रियों और अंतःकरणचतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) से कुछ काम नहीं लेता, तब उसको त्रिकुटी (भौहों के बीचवाले स्थान) में एक ज्योति देख पड़ती है। अभ्यास के साथ यह ज्योति क्रमशः १६ रूपों में दिखाई देती है, जिनके प्रथम नौ रूप निम्न-लिखित हैं—नीहार (ओस), धूम्र, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत (जुगनू), तड़ित् (बिजली), स्फटिक और चंद्र। ये नाम केवल समता-प्रदर्शन के लिये कहे गए हैं। ज्योति के इनसे ऊँचे जो और सात रूप हैं, वे केवल योगियों को ज्ञात हैं, सर्व-साधारण को नहीं बतलाए जा सकते। सुनने से संबंध शब्द (अर्थात् अनहद नाद) का है। ओम् की सोलह कलाएँ अथवा मात्राएँ होती हैं। इन सोलहो पर क्रमशः पूर्ण अधिकार करने पर योगी प्रणव को समझता है। प्रणव ईश्वर का वाचक है। इसी को नाद भी कहते हैं। संसार की सब शक्तियों को मिलकर जो स्फुरण होता है, वही प्रणव या नाद है। यह नाद निरंतर हुआ करता है, इसीलिए इसे अनहद (अनाहत) कहते हैं। इसी को दसनादम् भी कहा है, जिन्हें योगी लोग सुनते हैं। नादबिंदु उपनिषत् में ११ नाद कहे गए हैं, जिनकी उपमा इन से दी गई है—१. जलधि-तरंग, २. घन-गरज, ३. भेरी, ४. निर्झर (पहाड़ी नदी), ५. मृदंग, ६. घंटा, ७. वेणु, ८. किंकिणी, ९. वंशी, १०. वीणा, ११. भ्रमर।

जो-जो पदार्थ यहाँ लिखे गए हैं, उनके शब्दों से प्रयोजन है। इस ध्वनि-संबंधी उन्नति की तीन कक्षाएँ हैं। उपर्युक्त पहली चार ध्वनियाँ प्रथम कक्षा से संबंध रखती हैं। इसी भाँति नंबर ५ से ७ तक दूसरी कक्षा से और अंतिम चार तीसरी कक्षा से संबद्ध हैं। इनके आगे भी अन्य ध्वनियाँ सुन पड़ती हैं, जिनका कथन शब्दों में नहीं हो सकता। सात शब्द नीचे प्रकार के माने गए हैं, तथा इनसे ऊपर कुछ और उच्च प्रकार के शब्द कहे गए हैं। जैसे दर्शन-संबंधी १६ प्रकार ऊपर दिखलाए गए हैं, वैसे ही श्रवण-संबंधी १८ शब्द समझ पड़ते हैं। जब षोडश कलायुक्त पुरुष ब्रह्म का पूर्ण विचार होता है, तब कलाओं का विचार नहीं होता, और वे कलाएँ मिली हुई समझी जाती हैं। ऐसी दशा में ईश्वर को निष्कल कहते हैं। जब कलाओं पर ध्यान रखकर ईश्वर पर विचार होता है, तब उसको सकल कहते हैं। परब्रह्म निष्कल है, और अपरब्रह्म सकल। इन सोलहो कलाओं की ऊपमा चंद्रमा की सोलहो कलाओं से दी जाती है, यहाँ तक कि ईश्वरीय और चांद्र कलाओं के नाम भी एक ही हैं, यथा—अमृत, मानत, पूष, तुष्टि, पुष्टि, रति, श्रुति, शशिना, चंद्रिका, कांति, ज्योत्स्ना, श्री, प्रीति, अंगदा, पूर्णा और पूर्णामृत। इसी उपासना को षोडशकल-पुरुष-विद्या कहते हैं, जिसमें निर्गुण-ध्यान और सगुणोपासना, दोनो सम्मिलित हैं।

अवतारों, पैग़ंबरों, सिद्धों आदि के प्रति पूजन अथवा मान प्रतीक-उपासना से ही संबंध रखता है, क्योंकि मनुष्य भी एक प्रकार की प्रतिमा-मात्र है। निर्गुण-उपासना प्रतीक-उपासना से ऊँची है, किंतु उसमें भी सगुणत्व एवं प्रतीकत्व लगा है, सो वह भी बुद्धि की अपेक्षा प्रधानतः प्रेम मार्ग से ही संबन्ध रखती है। सबसे पहले प्रतीक-उपासना का दर्जा है। उससे बढ़कर सगुण-उपासना की पात्रता आती है, और उससे भी आगे निर्गुण का पद है, जो प्रेम से विशेष

संबंध न रखकर प्रधानतः निर्विशेष ज्ञान का विषय है। निर्विशेष ज्ञान को ही प्रेमी लोग तल्लीनता कहते हैं। इसीलिये स्थूल प्रकार से सविशेष सगुण की उपासना तथा निर्गुण का ज्ञान कहा गया है। वास्तविक ईश्वर इन दोनो से ऊपर है। ये दोनो सिखलाने-भर को हैं। जब रेखागणित सिखलाया जाता है, तब यह पढ़ाया जाता है कि रेखा में लंबाई है, किंतु चौड़ाई बिलकुल नहीं। यह बतलाने को बोर्ड पर एक रेखा भी खींची जाती है, किंतु वह स्वयं अशुद्ध है; क्योंकि बिना चौड़ाई के रेखा सोची तो जा सकती है, खींची नहीं जा सकती। फिर भी बिना इसके रेखागणित समझ में नहीं आ सकता। इसी प्रकार ईश्वर का ज्ञान देने को निर्गुण और सगुण विचार साधन-मात्र हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक स्पिनोज़ा ने कहा है कि ईश्वर को निर्गुण बतलाने ही में हम उसमें एक गुण स्थापित करते हैं, अर्थात् यह कहते हैं कि उसमें अमुक बात का अभाव है। यह भी एक गुण ही है, यद्यपि भावात्मक न होकर अभावात्मक है। इसीलिये कहा गया है कि ईश्वर का विचार पूर्णतया शब्दों में कहा नहीं जा सकता, वरन् इंगित से समझाया जा सकता है। अतएव कहते हैं कि ईश्वर का वास्तविक अहंग्रह भाव, सगुण और निर्गुण, दोनो से ऊपर है। उपासना और ज्ञान, निर्गुण और सगुण, दोनो ही में होते हैं।

निर्गुण-सगुण-विचारों का अपने यहाँ मनोरंजक इतिहास है। वेदों में तैंतीस देवताओं की मुख्यता है, और उन्हीं को यज्ञों से प्रसन्न किया जाता था। फिर भी इतना कहा गया कि वे केवल ईश्वरीय शक्ति से सबल हैं, अपनी से नहीं। वह ईश्वर कैसा है, सो वेदों में बहुत करके अकथित है। पीछे से ब्राह्मण तथा सौत्र-कालीन सभ्यता में यह भाव उठा कि जिन इंद्रादि देवताओं में अपना निजी बल नहीं है, वे महान् कैसे? इस प्रकार औपनिषत् ज्ञान एक ईश्वर की ओर

झुका, विशेषतया उसके निर्गुण भाव पर। उपनिषदों ने बहुधा उसे अव्यय, अलोहित, अस्नाविर, अरूप आदि कहा। अनंतर यह भाव उठने लगा कि जो ईश्वर समष्टि-मूलक कृपा से इतर व्यष्टि रूप में अपने से कोई विशिष्ट संबंध रखता ही नहीं, वह आराध्य नहीं है। यह भाव बहुत करके बृहस्पति के चार्वाक (लोकायत)-मत से उठा, जिसने अनीश्वरवाद चलाया। फिर भी कुछ हिंदू-सभ्यता रखने को कपिलादि ने भी इसी से मिलते-जुलते उत्तर विचार चलाए। तथापि समय पर महर्षि कपिल, जैमिनि और गौतमबुद्ध के उपदेशों के पीछे से भारत में अनीश्वरवाद चलने लगा, जिसका प्रतिकार समाज में शुष्क निर्गुणवाद न कर सका। तब महर्षि बादरायण व्यास ने श्रीभगवद्गीता द्वारा पहलेपहल सगुणवाद का सबल प्रचार किया। इसमें प्रतीकत्व आधिक्य से नहीं। गंगा की महत्ता कथित है, किंतु उनमें स्नान से कोई फल नहीं कथित है। प्रतिमा-पूजन भी गीता में नहीं है। हरप्पा (३३वीं शताब्दी बी० सी०) और मोहंजोदड़ो में अट्ठाईसवीं शताब्दी ईसा पूर्व की सभ्यता निकली है। उसमें शिवलिंग पाए गए हैं, किंतु 'न तस्य प्रतिमास्ति' द्वारा वेद ने आर्यों में प्रतिमा पूजन न आने दिया। बौद्ध-काल के पूर्व तक अनार्यों में तो प्रतिमा-पूजन मिलता है, किंतु आर्यों में निश्चय-पूर्वक नहीं। प्रतिमा भी केवल लक्ष्मी की मिली है, सो भी सांकेतिक, और उसके भी पूजन का वर्णन नहीं है। बुद्ध भगवान् के पीछे यहाँ प्रतिमा-पूजन ज़ोरों से चला, जो तुर्कों, शकों, हूणों आदि के समय पर हिंदू बनने से और भी बढ़ा। इन्हीं लोगों के प्रभाव से पाप-स्वीकृति, तौबा आदि की नक़ल पर अपने यहाँ भी तीर्थ-स्नान आदि द्वारा पाप-विमोचन की प्रणाली बहुतायत से चली। था यह विचार ऋग्वेद में भी, किंतु इसकी वहाँ मुख्यता न थी। अब तीर्थ स्नान, प्रतिमा-पूजन आदि के ही सहारे से हिंदू-धर्म चल रहा है। भक्ति इन्हीं

पर बहुधा अवलंबित रहती है। भारत में गीता के पूर्व निर्गुण ब्रह्म का प्रचार था और गीता के पीछे सगुण का। अनंतर सगुणत्व दिनोंदिन बढ़ता आया है। कुछ दार्शनिकों का कथन है कि योग द्वारा जो ज्योति और शब्द का ज्ञान होता है (जिसका कथन ऊपर हो चुका है), वह एक प्रकार से अप्राकृतिक है। वैज्ञानिकों का कथन है कि अनहद नाद और ज्योति के ज्ञान, जो समाधि से प्राप्त होते हैं, वे भी अप्राकृतिक न होकर प्राकृतिक-मात्र हैं, और जैसा साधारण शब्दों तथा रूपों का ईश्वर से संबंध है, वैसा ही उनका भी, उससे विशेष कुछ भी नहीं; अर्थात् उन ज्योतियों तथा नादों में कोई विशेष ईश्वरीय सत्ता नहीं है, वरन् साधारणी सत्ता-मात्र है। इनका विचार है कि कर्णेंद्रिय को सदैव काम करने का अभ्यास है; अतः जब हम उससे कोई भी काम नहीं लेना चाहते, जैसा कि समाधि की अवस्था में होता है, तब वह ऐसे शब्दों को पकड़ती है, जो हमारी इच्छा-शक्ति की जाग्रत् अवस्था में उस (कर्णेंद्रिय) के लिये अति सूक्ष्म होने के कारण सुन नहीं पड़ते। ज्यों-ज्यों इसका अभ्यास बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों शक्ति बढ़ती जाती है, यहाँ तक कि समाधिस्थ मनुष्य अंत में ऐसे-ऐसे शब्द सुनने लगता है, जो उसे अप्राकृतिक और ईश्वरीय समझ पड़ते हैं। इसी प्रकार नेत्र बंद करके समाधि लगाने से आँख में जो देखने के स्नायु हैं, उनका प्राकृतिक स्फुरण होने से उन्हें त्रिपुटी में ज्योति देख पड़ने लगती है, जिसके रूप अभ्यास-वृद्धि के साथ बदलते जाते हैं। इन्हीं रूपों को योगी ईश्वरीय ज्योति का साक्षी मानने लगता है, यद्यपि सूक्ष्मता का विचार छोड़ देने से इनमें साधारण पदार्थों के देखने से बढ़कर कोई भी मुख्य ईश्वरीयता नहीं है। यहाँ यह भी कह देना चाहिए कि दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों में इस विषय पर कोई वास्तविक भेद है भी नहीं, क्योंकि दार्शनिक भी इन्हें वास्तव में अप्राकृतिक नहीं मानते। वे केवल

इनकी सूक्ष्मता पर ज़ोर देते हैं। इस विषय पर अपने को मत-प्रकाशन की कोई आवश्यकता नहीं। इतना हर प्रकार से मानना पड़ता है कि योगी जो ज्योति देखता और शब्द सुनता है, उसके आकार-प्रकार साधारण ज्ञान से सूक्ष्मतर हैं। जब सभी बातों में ईश्वरीय शक्ति है, तब सूक्ष्म बातों में उसकी कुछ अधिकता अवश्यमेव होगी।

ऊपर के वर्णन से ज्ञात होगा कि हिंदू-मत में ईश्वरीय भाव बहुत ही ऊंचा है। अब हम कबीर साहब के ईश्वर-संबंधी कथनों पर विचार करते हैं। आपने कहा है कि ईश्वर में सब शक्तियाँ हैं, और वह सभी कुछ कर सकता है, किंतु बंदा (आदमी) नहीं कर सकता। इससे ईश्वर ही में शक्ति है, ऐसा निष्कर्ष निकलता है। कबीर ने उसे सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी आदि माना है, और एकेश्वरवाद पर बहुत बड़ा ज़ोर दिया है। 'सैना बैना' से 'गूँगे के गुड़' की भाँति समझाने में आपने शून्य, ज्योति और शब्द या अनहद नाद, इन तीन बातों पर विशेष ज़ोर दिया है। शून्यवाद अनीश्वरवाद को कहते हैं, और ईश्वरवाद में भी शून्य का वर्णन आता है। ईश्वर को बार-बार शून्य शहर का वासी आदि कहकर कबीर साहब ने यह व्यक्त किया है कि अद्वैतवाद सत्य है। ईश्वर के अतिरिक्त प्रकृति, जीवात्मा आदि कुछ भी सत् नहीं हैं, क्योंकि यदि वे सत् होते, तो ईश्वर के अतिरिक्त और भी पदार्थ होते, और वह शून्य का निवासी न होता। योग में इंद्रियों के शून्यप्राय कर देने से ही ज्योति का दर्शन होता है। इससे कबीर साहब ने शून्य का अधिक वर्णन करके यह भी दिखलाया है कि इंद्रियों की अकर्मण्यता अर्थात् लय द्वारा ज्योति-दर्शन होनेवाला योग का विचार सत्य है।

इस प्रकार 'शून्य' के कथन द्वारा कबीर साहब ने, हमारी समझ में, अद्वैत-मत, योग की ज्योति एवं शब्द-संबंधी विचारों को पुष्ट किया है। शब्द, नाद आदि से आपका प्रयोजन अनहद नाद से है, जैसा कि

आपने कहा भी है। आपने अनहद ढोल, अनहद घंट और नाद, इन तीनो बातों का इस संबंध में विशेष कथन किया है। ये सब बातें योग-शास्त्र के विचारों तथा अनुभवों से पूरी-पूरी मिल जाती हैं, जैसा कि ऊपर वर्णित है। शब्द को आप ररंकार-मूलक मानकर राम-नाम को पूज्य समझते हैं। इतनी ही पोप-लीला आपके कथनों में है, या यों कहें कि समझ पड़ती है। योग के चार स्थूल विभाग हैं—राजयोग, हठयोग, मंत्रयोग और लययोग। कबीर साहब का सिद्धांत प्रधानतः लययोग समझ पड़ता है।

ईश्वर के संबंध में आपका विचार बहुत ही ऊँचा है। इससे ऊँचा विचार आज तक शायद किसी भारी हिंदी-कवि ने नहीं प्रकट किया। आपने साफ़ कह दिया है कि ईश्वरीय विचार सगुण और निर्गुण, दोनो से ऊँचा है। यह भी प्रकट रूप से कहा गया है कि भक्ति सगुण ईश्वर की करे, और ज्ञान के लिये निर्गुण ईश्वर पर विचार करे, किंतु ये दोनो बातें समझाने-भर को हैं, क्योंकि असली ईश्वर इन दोनो से परे है। प्रतीक-उपासना की आपने पूरे बल के साथ निंदा की है। प्रतिमा, अवतार, पैग़ंबर, मुल्ला, क़ाज़ी, ब्राह्मण आदि में से आप किसी को पूज्य नहीं मानते और सद्गुण पर ही ज़ोर देते हैं। यह महात्मा उपनिषदों की सच्ची संतान थे। इन्होंने सिवा सच्चे, चोखे ज्ञान के और कुछ भी नहीं कहा, और समझाने-बुझाने आदि के लिये किसी प्रकार ईश्वरीय विचार की सत्यता में तिल-मात्र असत्यता नहीं घुसने दी। सत्य-कथन का इन महात्मा को इतना चाव था कि चाहे भद्दापन भी आ जाय, विरोध हो जाय, स्त्री का सतीत्व तक भ्रष्ट हो जाय, किंतु मुख से असत्य बात न निकले, और कर्मों में असत्यता का आवेश न हो। हिंदू-दार्शनिक सिद्धांतों में आपने अद्वैतवाद को पूर्ण बल के साथ अपनाया, किंतु फिर भी, उसमें कहे हुए प्रत्येक विचार को नहीं माना। अद्वैत में आपने

ईश्वर की अद्वैतता मात्र पर ज़ोर दिया है। इतना और कहना पड़ता है कि यद्यपि कबीर साहब ने भक्ति के लिये सगुण ईश्वर की उपासना ठीक कही है, तो भी इनकी रचना में उसका बहुत कम समावेश है। भक्ति का उपदेश आप अवश्य करते हैं, किंतु ईश्वर में तार्किक सत्यता स्थिर रखने के लिये उसके सगुण-वर्णन को दृढ़ नहीं करते, जिससे भक्ति के लिये कोई अवलंब कम मिलता है। ईश्वर की भक्ति क्यों की जाय? इस प्रश्न का उत्तर जो आपने दिया है, वह बहुत चित्ताकर्षक नहीं है। ईश्वर की दयालुता, कोमलता आदि के भाव आपकी रचना में कम आए हैं। आप निर्वाण आदि के ही लिये भक्ति का उपदेश करते हैं; यह कम दिखलाते हैं कि दुःखों का दमन ईश्वर ने किया, अथवा वह हमारे लिये बड़ा उत्सुक है, या हमारे कष्टों, दुःखों, दुराचरणों आदि के हटाने में तत्पर है। आपकी रचना में आत्मा की उत्सुकता परमात्मा की ओर विशेष है, किंतु परमात्मा की उत्सुकता बहुत कम है, वरन् प्रायः कुछ भी नहीं। जो थोड़ी-सी है, वह पर्याप्त नहीं। यह नहीं समझ पड़ता कि आत्मा परमात्मा के लिये क्यों इतना उत्सुक हो? केवल मुक्ति की चाट यथेष्ट नहीं है। प्रेम करने के योग्य बहुत-सी बातें कबीर के ईश्वर में नहीं मिलतीं। इनके ईश्वर के संबंध में उदासीन भाव से भक्ति ठीक या योग्य समझ पड़ती है (उदासीन भाव से भक्ति शांत भाव के अंतर्गत कही जा सकती है)। इसका कारण तार्किक शुद्धता ही दिखाई देती है। ईश्वरीय विचार जितना शुद्ध कबीर साहब ने कहा है, उतना हमारे किसी अन्य भारी भाषा-कवि ने नहीं कहा। स्वामी दयानंद तक ने सब कुछ छोड़कर वेदों का सहारा अवश्य ढूँढ़ा, किंतु कबीर ने कोई सहारा नहीं लिया, केवल सच्चा-सीधा ईश्वर कहा। इसीलिये उसमें कुछ शुष्कता आ गई है।

"चरित राम के सगुन भवानी, तरकि न जायँ बुद्धि, बल, बानी।
यह बिचारि जे चतुर बिरागी, रामहिं भजहिं तरक सब त्यागी।"

महात्मा तुलसीदास को अनन्य भक्त होकर भी ऊपर-लिखी बात कहनी पड़ी। आप राम-भक्ति को तर्क-हीन बतलाते हैं, किंतु इतना होने पर भी संशय न होने का उपदेश एवं 'संशयात्मा विनश्यति' की धमकी विश्वासात्मिका भक्ति के बल पर देते हैं। कबीरदास के कथनों में संशयात्मक के लिये ठौर ही नहीं है। वह कहते ही नहीं कि अमुक पुस्तक ईश्वर की आज्ञा है; फिर संशय क्या किया जाय? वह ईश्वरीय कृपाओं के उदाहरण ही नहीं देते कि कोई उन पर संदेह प्रकट करे। वेद, पुरान, बाइबिल आदि का अधिकार उन ग्रंथों के ईश्वरीय संबंध पर ही अवलंबित है। यदि कोई इस संबंध को न मान सके, तो उन पुस्तकों पर विश्वास कैसे करे? कबीरदास के कथनों में ऐसे विश्वासों की आवश्यकता ही नहीं। अन्य बहुतेरे उपदेशक कहते हैं कि हमारे कथन अमुक ग्रंथ में कथित होने, हमसे ईश्वर का अमुक-संबंध होने एवं ऐसे-ही-ऐसे अन्य कारणों से मान्य हैं; किंतु महात्मा गौतम बुद्ध की भाँति कबीर साहब मानो यही कहते हैं कि हमारे कथन ठीक होने के कारण ठीक हैं; जो उनमें भूल निकाल सकें, वे निकालें। वह स्वयं सबकी भूलें निकालने का बीड़ा उठाए बैठे थे। उनके कथनों में कोई भूल न निकाल सका। योगियों के कथन होते हैं कि हमने अमुक बात योग-बल से देखी है, इसलिये तुम्हें माननी चाहिए। यदि संदेह हो, तो 'संशयात्मा विनश्यति' की धमकी रक्खी हुई है। परंतु बाबा, सारे प्राकृतिक नियमों और अध्ययनों के फलों को किस कोने में ठूँसें, जो अंध-विश्वास के अनुयायी बनें? उत्तर यही मिलेगा कि कौन अंध-विश्वास करने को कहता है? स्वयं योग-साधन कर देख न लो। पर साठ बरस तक श्रम करने को समय

किसके पास है ? फल यह है कि आप अपना योग-बल लिए बैठे रहिए, और हम अपने अविश्वास पर दृढ़ रहें। कबीर के कथनों में ऐसी बातों की आवश्यकता नहीं। आपके छंदों तथा जीवन के चरित्रों से जान पड़ता है कि आप योगी, सिद्ध, ब्रह्मानंदी और समाधिस्थ थे। आपकी गणना पैग़ंबरों और मिस्टिक (Mystic) महापुरुषों में हो सकती है। फिर भी आपने किसी को अपने ऊपर अनुचित विश्वास करने का उपदेश नहीं दिया, और सारी चेतावनियाँ तथा विचार बुद्धि-ग्राह्य लिखे। इसलिये यदि इनका ईश्वर-प्रेम मोहक न हो, तो भी सत्यता की मात्रा विशेष होने से हम उसको योग्य समझते हैं, और इन्हें बहुत भारी धर्मोपदेशक मानते हैं। इतना तो भी कहना पड़ेगा कि अपनी भक्ति शुष्क देखकर ही शायद आपने उलटबाँसी आदि कहकर अपने धार्मिक उपदेश जनता तक पहुँचाने चाहे हों, किंतु उनमें केवल मूलमोहिनी विद्या है।

उदासीन भक्ति का यह प्रयोजन हमने माना है कि ईश्वर की महत्ता को पूर्ण रूप से स्वीकार करें, उसके नियमों को समष्टिभावेन दयामय समझें, किंतु नियमातिरिक्त दया को न्याय के प्रतिकूल मानकर असाधारण व्यक्तिगत दया की आशा उससे न करें। ऐसी भक्ति का मुख्य अंग कर्तव्य-पालन है। ईश्वर से कोई विशिष्ट व्यक्तिगत संबंध असंभव है।

अवतार

(१) तेहि साहब के लागौ साथा; दुइ कुल मेटिकै होहु सनाथा।
दसरथकुल अवतरि नहिँ आया; नहीं लंक के राय सताया।
नहि देवकि के गरभहि आया; नहीं जसोदा गोद खिलाया।
पृथिवी रमन दमन नहिं करिया; पैठि पताल नहीं बलि छलिया।
नहिँ बलि राय सों माँडी रारी; ना हरनाकुस बधल पछारी।
रूप बराह धरनि नहिं धरिया; छत्री मारि निछत्र न करिया।

गंडक सालग्राम न सीला; मच्छ-कच्छ ह्वै नहिं जल ढीला।
द्वारावती सरीर न छाड़ा; लै जगनाथ पिंड नहिं गाड़ा।

२) संतो आवै-जाय सो माया ;

है प्रतिपाल काल नहिं वाके, ना कहिं गया, न आया।

क्या मकसूद मच्छ-कच्छ होना, संखासुर न सँहारा;
अहै दयालु, द्रोह नहिं वाके, कहौ कौन को मारा।
वे करता, न बराह कहावैं, धरनि धरैं नहिं भारा;
ई सब काम नहीं साहेब के, झूठ कहै संसारा।
खंभ फारि जो बाहर होई, ताहि पतिज सब कोई;
हिरनाकुस नख उदर बिदारे, सो नहिं करता होई।
बावन-रूप न बलि को जाँचै, जो जाँचै सो माया;
बिना बिवेक सकल जग जड़ है, माया जग भरमाया।
परसुराम छत्री नहिं मारा, ई छल माया कीन्हा;
सतगुरु भक्ति भेद नहिं जानै, जीव सु मिथ्या चीन्हा।
सिरजनहार न ब्याही सीता, जल-पखान नहिं बंधा;
वै रघुनाथ एक नहिँ सुमिरै, जो सुमिरै सो अंधा।
गोप, ग्वाल, गोकुल नहिं आए, करते कंस न मारा;
मेहेरबान है सबका साहेब, ना जीता, ना हारा।
वे करता नहिं बौध कहावैं, नहीं असुर को मारा;
ज्ञान-हीन करता सब भरमे, माया जग संहारा।
वे करता नहिं भए कलंकी, नहीं कलिंगहि मारा;
ई छल-बल सब मायै कीन्हा, जतिन-सतिन सब टारा।
दस अवतार ईस्वरी माया करता कै जिन पूजा;
कहै 'कबीर' सुनौ हो संतो, उपजै-खपै सो दूजा।

माया

ई माया रघुनाथ कि बैरिनि, खेलन चली अहेरा हो ;
चतुर चिकनियाँ चुनि-चुनि मारे, कोई न राखा नेरा हो ।
मौनी, पीर, दिगंबर मारे, ध्यान धरंते जोगी हो ;
जंगल में के जंगम मारे, माया किनहु न भोगी हो ।
बेद पढ़ंते बेदुवा मारे, पुजा करंते स्वामी हो ;
अर्थ बिचारत पंडित मारे, बाँधेउ सकल लगामी हो ।
सृंगी ऋषि बन भीतर मारे, सिर ब्रह्मा का फोरी हो ;
नाथ मुछंदर चले पीठि दै, सिंगल हू में बोरी हो ।
साकठ के घर करता धरता, हरि-भक्तों के चेरी हो ;
कहहि 'कबीर' सुनो हो संतौ, ज्यों आवै त्यों फेरी हो ।

अवतार तथा माया-संबंधी उपर्युक्त छंदों से प्रकट हुआ होगा कि कबीर साहब अवतार, देवी, देवता आदि को माया के अंग समझते और नहीं मानते थे ।

आवागमन

इस सिद्धांत पर हिंदुओं और मुसलमानों के विचारों में बहुत बड़ा अंतर है। हिंदुओं का सिद्धांत है कि प्रत्येक मनुष्य, वरन् देहधारी जीवन में जैसे कार्य करता है, तदनुसार भविष्य में अन्य योनियाँ प्राप्त करके संसार में काम करता है। उधर मुसलमानों का मत है कि जीवात्मा एक ही बार मनुष्य योनि पाकर फिर उसमें कभी नहीं आता। कबीर साहब की रचना पढ़कर इस प्रश्न पर भ्रम-सा होता है, क्योंकि आप इन दोनो विरुद्ध सिद्धांतों के समर्थन में स्थान स्थान पर छंद लिखते हैं। इसीलिये यह निश्चय नहीं होता कि कर्मों के सिद्धांत पर इनका दृढ़ मत क्या था ?

उदाहरण—

हिंदू-विचार

निर्गुन नाम बिना पछितैहो फिरि-फिरि यहि नगरी।
कहत 'कबीर' बसा है हंसा आवागमन मिटावैं।
दिवाने मन, भजन बिना दुख पैहौ।
पहिला जनम भूत का पैहौ, सात जनम पछितैहौ;
काँटा पर कै पानी पैहौ, प्यासन ही मरि जैहौ।
दूजा जनम सुवा का पैहौ, बाग बसेरा लैहौ;
टूटे पंख, बाज मँड़राने, अधफड़ प्रान गँवैहौ।
बाजीगर के बंदर ह्वै हौ, लकिन नाच नचैहौ;
ऊँच-नीच के हाथ पसरिहौ, माँगे भीख न पैहौ।
सत्त नाम की टेर न करिहौ, मन-ही-मन पछितैहौ;
कहत 'कबीर' सुनौ भइ साधौ, नरक-निशानी पैहौ।
अष्ट कमल से ऊपजै, लीला अगम अपार;
कह 'कबीर' चित चेतिकै आवागमन निवार।

मुसलमानी विचार

सोच समझ अभिमानी, चादर भई है पुरानी;
कह 'कबीर' धरि राखु जतन से, फेरि हाथ नहिं आनी।
जियरा ऐसा पाहुना मिलै न दूजो बार।
मानुष-तन दुर्लभ अहै, बहुरि न दूजी बार;
पक्का फल जो गिरि परै, बहुरि न लागै डार।

राम

राम को कबीर साहब दशरथ-नंदन अथवा अवतार समझकर नहीं जपते थे, वरन् ईश्वरीय शब्द ररंकार के संबंध में पवित्र मानते थे। इनके गुरु स्वामी रामानंद ने जो इन्हें राम का मंत्र दिया था, उससे उनका प्रयोजन अवतार ही का था। फिर भी कबीर की रचना में

सैकड़ों स्थानों पर राम-नाम होते हुए भी उससे अवतार का संबंध कभी नहीं बैठता। इससे जान पड़ता है कि शिष्य होने के बहुत दिन पीछे, अपने विचार दृढ़ कर लेने पर, कबीर साहब ने इन छंदों की रचना की। इन्होंने यद्यपि गुरु-मंत्र का भाव छोड़ दिया, तथापि उसके शब्दों से श्रद्धा नहीं हटाई।

उदाहरण—

रमै घट-घटन में आपु न्यारा रहै पूर्न आनंद है राम सोई।
पाँच पच्चीस गुन सील से रहित है कौन-सी दृष्टि से राम देखा;
दसरथ-सुत तिहुँ लोकहि जाना; राम-नाम का मर्म है आना।

ज्ञान

ज्यों अँधेरे को हाथिया सब काहू को ज्ञान;
अपनी-अपनी कहत हैं, काको धरिए ध्यान।
ज्ञानी से कहिए कहा, कहत 'कबीर' लजाए;
अंधे आगे नाचते कला अकारथ जाय।
ज्ञानी भूले ज्ञान कथि, निकट रह्यो निज रूप:
बाहर खोजैं बापुरे भीतर बस्तु अनूप।
जौलौं तारा जगमगैं, तौलौं उगै न सूर;
तौलौं जिय जग कर्म बस, जौलौं ज्ञान न पूर।

उपर्युक्त प्रथम तीन दोहों में झूठे ज्ञान की निंदा की गई है, सच्चे की नहीं। तीसरे दोहे में बुद्धि की निंदा और प्रतिभा की स्तुति हुई है। चौथे में सच्चे ज्ञान की महिमा गाई गई है।

भक्ति और प्रेम

अर्ब-खर्ब लौं द्रबि है, उदय-अस्त लौं राज;
भक्ति-महातम ना तुलै, ये सब कौने काज।
और कर्म सब कर्म हैं, भक्ति-कर्म निष्कर्म;
कहै 'कबीर' पुकारिकै भक्ति करो तजि भर्म।

उल्टवाँसी और सांकेतिक पद

कबीर साहब ने उल्टवाँसी बहुत-सी कही हैं। इनमें देखने को तो उलटा कथन किया जाता है, किंतु आध्यात्मिक अर्थ लगाने से वह ठीक बैठ जाता है। इसीलिये इन्हें उल्टवाँसी कहते हैं। इन्हीं से मिलते हुए बहुत-से ऐसे कथन हैं, जो संकेत में किए गए हैं, और जिनका अर्थ साधारण पाठक कठिनता से लगा सकते हैं। "पाँच पचीस को दमन करो!" एक ऐसा ही वाक्य है। इसी प्रकार के बहुत-से कथन ऋग्वेद में भी पाए जाते हैं। वैदिक साहित्य का कुछ स्वाद इन महात्मा की रचना में कहीं-कहीं मिलता है। उदाहरण—

(१) बाँधे अष्ट कष्ट नौ सूता।

यहाँ अष्ट से योग, कष्ट से ज्ञान, नौ से नवधा भक्ति और सूत से जीव का प्रयोजन है।

(२) चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, राई ना ठहराय ;
आवागमन कि गम नहीं, तहँ सकलो जग जाय।

यहाँ चिउँटी से वाणी का प्रयोजन लिया गया है, और राई से बुद्धि का।

उपदेश

कबीर साहब ने उपदेश और चेतावनियाँ भी बहुत अच्छी कही हैं—

अति का भला न बोलना, अति की भली न चूप ;
अति का भला न बरसना, अति की भली न धूप।
एक कर्म है बोवना, उपजै बीज बहूत ;
एक कर्म है भूँजना, उदै न अंकुर सूत।
करु बहियाँ बल आपनी, छाँड़ बिरानी आस ;
जाके आँगन है नदी, सो कस मरै पियास।
बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय ;
जो दिल खोजूँ आपना, मुझ-सा बुरा न होय।

प्रेम-प्रीति का चोलना, पहिरि कबीरा नाच ;
तन-मन तापर वारहूँ, जो कोइ बोलै साँच।

चेतावनी

ऐसी गति संसार की, ज्यौं गाड़र की ठाट ;
एक पड़ी जेहि गाड़ में सबै जायँ तेहि बाट।
चलती चक्की देखिकै दिया 'कबीरा' रोय ;
दुइ पट भीतर आइकै साबुत गया न कोय।
मनुवा तौ पंछी भया उड़िकै चला अकास ;
ऊपर ही ते गिरि परा या माया के पास।
मन-कुंजर मयमंत था, फिरता गहिर गँभीर ;
दोहरी, तेहरी, चौहरी परि गइ प्रेम-जँजीर।
तन-बोहित, मन काग है, लख जोजन उड़ि जाय ;
कबहीं दरिया अगह बहि, कबहीं गगन समाय।
मन के हारे हार है, मन के जीते जीत ;
कह 'कबीर' प्यो पाइए मन ही की परतीत।
देस-देस हम बागिया ग्राम-ग्राम की खोरि ;
ऐसा जियरा ना मिला, जो ले फटकि-पछोरि।

मेरा तेरा मनुवा कैसे एक होय रे।

मैं कहता हूँ आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी ;
मैं कहता सुरझावनहारी, तू राखा उरझोय रे।
मैं कहता तू जागत रहना, तू रहता है सोय रे ;
मैं कहता निर्मोही रहियो, तू जाता है मोय रे।
जुगन-जुगन समुझावत हारा, कहा न मानत कोय रे ;
तू तो रंडी फिरै बिहंडी, सब धन डारे खोय रे।
सतगुरु धारा निरमल बाहै, वामें कायर धोय रे ;
कहत 'कबीर' सुनौ भइ साधो, तब ही वैसा होय रे।

नीति

सिंहों के लेहँड़े नहीं, हंसों की नहिं पाँति ;
लालों की नहिं बोरियाँ, साधु न चलैं जमाति ।
नवन-नवन बहु अंतरा, नवन-नवन बहु बान ;
ये तीनो बहुतै नवैं चीता, चोर, कमान ।

मुसलमानी विचारों का प्रभाव

तासु के बदन की कौन महिमा कहौं, भासती देह अति नूर छाई ;
सून्य के बीच में बिमल बैठक, जहाँ सहज अस्थान है गैब केरा ।
छोड़ि नासूत मलकूत जबरूत हो और लाहूत हाहूत बाजी ;
जाय जाहूत में खुदा खाविंद जहँ, वहीं मक़ान साकेत साजी ।

(यहाँ मुसलमानी स्थान मलकूत, जबरूत, लाहूत आदि को लिखते हुए कवि ने वहीं साकेत का कथन कर दिया, जो विष्णु का स्थान है ।)

मुरसिद नैनों बीच नबी है ।
कर नैनों दीदार महल में प्यारा है ।

सत्त पुरुष इक बस पच्छिम दिस तासों करौ निहोर ।

हिंदूपन का प्रभाव

खाला केरी बेटी ब्याहैं घर ही करैं सगाई ।
सुनति कराय तुरुक जो होना, औरत को क्या कहिए ।
अरध सरीरी नारि बखानी, ताते हिंदू रहिए ।

इन कथनों से प्रकट है कि कबीर साहब के विचार बहुत ऊँचे थे । आप हिंदू-मुसलमानों के अंतर को बिलकुल नापसंद करते थे, और दोनो को एक करना चाहते थे । आपकी रचना में नूर, ग़ैब, मलकूत, जबरूत, लाहूत, खुदा, अल्ला, क़ाज़ी, मशायख़ (शैख़ की जमा), मुरशिद, दीदार, नबी, किताब आदि के कथन आने

से आपके चित्त पर मुसलमानों का प्रभाव प्रकट होता है। इसी विचार से आपने पश्चिम में ईश्वर का स्थान बतलाया है। ख़ाला की संतानों का आपस में विवाह अनुचित समझना तथा सुन्नत से मुसलमान होने को न मानना एवं उपनिषदों के सिद्धांतों का समादर करना आपके ऊपर हिंदू-प्रभाव प्रकट करते हैं। सैकड़ों छंदों से प्रकट है कि आपकी रचना और विचारों पर हिंदू-प्रभाव बहुत अधिक था। आपके ईश्वर-संबंधी विचार हिंदुओं के हैं। इसी प्रकार उपदेश आदि में भी हिंदू-विचार ही हैं। कहा जा सकता है कि आप मुसलमाननुमा हिंदू थे, अर्थात् कहने को तो मुसलमान थे, किंतु थे वास्तव में हिंदू। मुसलमानी विचारों से नबी हिदायत करनेवाले को कहते हैं। कहा जाता है, १, २४, ००० नबी हो गए हैं। नबियों से बढ़कर दर्जा किताबियों का है, जिनमें चार प्रधान हैं। पैग़ंबर ईश्वर के बसीठी को कहते हैं। चारो मुख्य पैग़ंबरों के नाम हैं—मूसा, दाऊद, ईसा और मुहम्मद। इनकी किताबें क्रम से तौरैत, ज़बूर, इंजील और क़ुरआन हैं। इनके अनुयायियों को क्रम से यहूदी (या मूसवी), ईसाई और मुसलमान कहते हैं। मूसा के पूर्व इब्राहीम भी मुख्य थे। इन दोनो के धर्म एक ही हैं, केवल खान-पान के विचार मूसा ने जोड़े थे। इब्राहीम की पुस्तक छोटी-सी है, जिसे सहीफ़ा इब्राहीमी कहते हैं। वह तौरैत Old Testement में है। इंजील New Testement है। दोनो मिलकर बाइबिल हैं। ज़बूर कोई पुस्तक नहीं है, वरन् तौरैत में जो दाऊद की शिक्षाएँ हैं, वे ही ज़बूर कही जा सकती हैं। दाऊदी कोई धर्म नहीं है, वरन् मूसवी उन्हें भी बुज़ुर्ग मानते हैं। मुसलमानों का विचार है कि इन चार पैग़ंबरों में से किसी को भी माननेवाला किताबी है, क्योंकि वह किसी-न-किसी ईश्वरीय किताब को मानता है। उनके विचार से हिंदू किताबी नहीं, मुशरिक हैं, अर्थात् ईश्वर

का शरीकदार (साझी) मानते हैं। यह मुसलमानी विचार अशुद्ध है, क्योंकि हिंदू भी एकेश्वरवादी हैं।

कबीर साहब के विषय में कुछ अन्य साधारण कथन

आपने प्रायः सब मुक्तक पद्य लिखे। आप ५ तत्त्व और २५ प्रकृतियों का प्रायः कथन करते हैं (पाँच तत्त पचीस प्रकिरती तीनो गुनन मिलावै)। रूपक आपने बहुत कहे हैं। जीव-सीव ऐसा कथन बहुत आया है। सीव से ईश्वर का प्रयोजन लगाया गया है, यद्यपि शिव को आप ईश्वर नहीं मानते। आपने अवतारों, प्रतिमाओं तथा त्रिमूर्ति की प्राय: निंदा की है, किंतु जो ग्रंथ हमारे देखने में आए हैं, उनमें पैग़ंबरों की खुली-खुली निंदा नहीं है, यद्यपि आप उन्हें मानते नहीं हैं। रोज़ा, ईद, मसजिद, शैख़, सैयद आदि को आपने खुली-खुली निंदा की है। उस समय ऐसे कथन करने में बड़े साहस की आवश्यकता थी, क्योंकि तब इतनी स्वतंत्रता न थी, जितनी अब है। तब मनुष्य अपने नए विचारों के कारण प्राण-दंड तक पा सकता था, जैसा कि मंसूर का हाल हुआ। इसलिये कबीर साहब के निर्भीक वाक्य उनके भारी साहस के भी साक्षी हैं। आपके छंदों में अपने ही विचार अधिकता से हैं। अन्यों के विचारों को आप अपने शब्दों में कम कहते थे, किंतु कहीं-कहीं ऐसा भी हो गया है।

यथा—

बालपना सब खेलि गँवाया, तरुन भया नारी-बस का रे ;
बिरध भया कफ-बाय ने घेरा, खाट पड़ा न जाय खसका रे।

ये पद मोह-मुद्गर

"बालस्तावत्क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः ;
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः।"

के आधार पर हैं।

कबीर साहब दुखवादी समझ पड़ते हैं। यथा—

जो देखा सो दुखिया देखा, तन धरि सुखी न देखा ;
उदै-अस्त की बात कहत हौं, ताकर करौ बिबेखा।
बाटे-बाटे सब कोउ दुखिया, क्या गिरही, बैरागी ;
सुकाचार्य दुख ही के कारन गरभै माया त्यागी।
जोगी दुखिया, जंगम दुखिया, तापस को दुख दूना ;
आशा-तृष्णा सब घट ब्यापै, कोइ महल नहिँ सूना।
साँच कहौ, तौ सब जग खीझै, झूठ कहा नहिँ जाई ;
कह 'कबीर' तेई भे दुखिया, जिन यह राह चलाई।
यह संसार कगद की पुड़िया, बूँद परे घुल जाना है ;
यह संसार काँच की बाड़ी, उलझ-पुलझ मर जाना है।
यह संसार झाड़ औ' झाँखर, आगि लगे बरि जाना है ;
कहत 'कबीर' सुनौ भइ साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है।

कबीर साहब होली, वसंत, चाँचरा आदि के वर्णन करने में उन विषयों पर बहुत कम कहकर मुख्य कथन अपने प्रिय सिद्धांतों का करते हैं, जैसे गोस्वामी तुलसीदास मिथिला, दंडक आदि सभी विषयों के सहारे केवल राम का कथन करते हैं।

कबीर साहब ने अपने अधिकांश छंद संतों को संबोधित करके कहे हैं। "कहैं कबीर सुनो भइ साधो" इस प्रकार कहकर शेष पद में उस भजन के उपयुक्त कथन किए हैं। आप प्रतीकोपासना और कर्म-कांड को निंद्य कहकर एकेश्वरवाद, अहिंसा, गुरु, जप, भक्ति, सदाचार, सद्विचार और सत्य पर ज़ोर दिया करते हैं। सब बातों पर विचार करने से आप बहुत बड़े उपदेशक समझ पड़ते हैं, और जैसा ऊपर कहा जा चुका है, गोस्वामी तुलसीदास के पीछे उत्तरी और मध्य-भारत पर गत बारह सौ वर्षों में आप ही का प्रभाव जनता पर सबसे अधिक पड़ा है।

यद्यपि आपने पढ़ने-लिखने पर कभी ध्यान नहीं दिया, और लेखनी

तक हाथ से नहीं छुई, तथापि आपकी रचनाओं से पांडित्य का पता लगता है। आपने उस काल के अद्वितीय विद्वान् स्वामी रामानंद का शिष्य होना दिखला दिया है। आपकी रचना में अनेकानेक स्थानों पर योग, अद्वैतवाद आदि से संबंध रखनेवाले शब्द बहुत आए हैं, जो पांडित्य प्रकट करते हैं। इसका उदाहरण-स्वरूप केवल एक पद यहाँ लिखा जाता है —

सबका साखी मेरा साईं।
ब्रह्मा, बिष्णु, रुद्र, ईश्वर लौं औ' अव्याकृत नाईं।
सुमति पचीस पाँच से कर ले, यह सब जग भरमाया;
अकर, उकार, मकार मातरा इनके परे बताया।
जाग्रत, सुपन, सुषुप्ति, तुरीया, इनते न्यारा होई;
राजस, समता, सात्त्विक, निर्गुन, इनते आगे सोई।
सुक्षम, थूल, कारन महँ कारन, इन मिलि भोग बखाना;
तेजस, बिस्व, पराग आतमा, इनमें सार न जाना।
परा, पसंती, मधमा, बैखरि, चौबानी ना मानी;
पाँच कोष, नीचे कर देखो, इनमें सार न जानी।
पाँच ज्ञान औ' पाँच कर्म की ये दस इंद्री जानो;
चित सोइ अंतः-करन बखानो, इनमें सार न मानो।
कुरम, सेस, किरकिला, धनंजय, देवदत्त कहँ देखो;
चौदह इंद्रो, चौदह इंद्रा, इनमें अलख न पेखो।
तत्पद, त्वंपद और असीपद बाच्य-लच्य पहिचाने;
जहद्लच्छना अजहद कहते अजहद्-जहद बखाने।
सतगुरु मिलि सत-सब्द लखावै, सार-सब्द बिलगावै;
कहत 'कबीर' सोई जन पूरा, जो न्यारा करि गावै।

यहाँ ईश्वर का वर्णन है। अव्याकृत सांख्य का शब्द है, जिससे अप्रकट का प्रयोजन है। २५ की संख्या सांख्य-शास्त्र की २४ पदार्थ-

संख्या तथा २५वाँ साक्षी पुरुष मिलाकर पूरी होती है । से पंच विकार (काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार), पंचप्राण, पंचेंद्रिय, पंचतन्मात्राएँ (क्षिति, जलादि के मूल) आदि का प्रयोजन लिया जा सकता है । ओ३म् हमारे यहाँ बहुत पुनीत है । अकार, उकार, मकार मात्रा से उसी ओ३म् का प्रयोजन है । जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, राजस, तामस, सात्त्विक, सूक्ष्म, स्थूल, कारण-शरीर, तैजस, विश्व, प्राज्ञ, आत्मा आदि अद्वैत-मत से संबंध रखते हैं । परा, पश्यंती, मध्यमा और बैखरी चौबानी (चार बानी) योग तथा निरुक्ति से संबद्ध हैं । पंचकोषों का संबंध वेदांत से है । कूर्म, शेष, किरकिला, धनंजय, देवदत्त आदि दस प्राणों के भेद हैं । १४ इंद्रियाँ पंचज्ञानेंद्रिय, पंचकर्मेंद्रिय और अंत:करण-चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) को मिलाने से होती है । चौदह इंद्रा का मतलब प्रत्येक इंद्रिय का देवता है । तत्पद, त्वंपद, असी-पद से तत्त्वमसि का प्रयोजन है, जो अद्वैत-मत का मूल-मंत्र है । वाचक, लक्ष्य, जहद्, अजहद्लक्षणा का वर्णन काव्य, वेदांत और न्याय में आता है । इन बातों से प्रकट है कि इस एक पद में इन महात्मा ने हिंदू-शास्त्रों का अपना विस्तृत ज्ञान दिखला दिया है ।

अपने विषय में कथन

कबीर साहब ने अपने को पैग़ंबर ज़ोर देकर तो नहीं कहा, किंतु कहीं-कहीं इसकी ध्वनि अवश्य निकलती है । वह ऊँचे थे, और अपने को वैसा ही समझते भी थे । उनका विचार था कि संसार उनके सिद्धांतों पर चलकर लाभ उठा और मुक्त हो सकता है । इतना होने पर भी आपने यावज्जीवन कपड़ा बनाने का काम नहीं छोड़ा, और कविता में भी अपना जुलाहापन अनेक स्थानों परदर्शाया । आपको जुलाहा होने की ग्लानि न थी, वरन् उसे आप अच्छा समझते थे ।

कासी में हम प्रगट भए हैं, रामानंद चेताए ;
समरथ का परवाना लाए, हंस उबारन आए।
सुर, नर, मुनिजन, औलिया ये सब उरली तीर ;
अलह राम की गम नहीं, तहँ घर किया 'कबीर'।
अठवें चक्रि अनुरोध बखाना, तहाँ जोलहदी ताना ताना ;
जाका नाम कबीर बखाना, सो संतन सिर धारा है।
सो चादरि सुर, नर, मुनि ओढ़ी, ओढ़ि कै मैली कीनी चदरिया ;
दास 'कबीर' जतन ते ओढ़ी, ज्यों-की-त्यों धरि दीनी चदरिया।

कबीरजी ने अपनी रचना साहित्यानंद-प्रदान के लिये न करके उपदेशार्थ की। जो पैग़ंबर आदि की उपाधियाँ यहाँ लिखी गई हैं, वे यों ही उदाहरणार्थ नहीं लिखी गई, वरन् हमारे कबीर साहब उन गुणों से वास्तव में भूषित समझ भी पड़ते हैं। ब्रह्मानंदी कवि भी होता है या नहीं, यह प्रश्न कठिन है। हमें तो समझ पड़ता है कि वह कवि भी है, और ऊँचे दर्जे का साहित्य ऐसे ही लोग रच सकते हैं। ब्रह्मानंद का उद्गार कविता में अच्छा होगा, क्योंकि यह उसका श्रेष्ठ माध्यम है। यह निर्विवाद समझ पड़ता है कि जितने लोगों ने हिंदी रचना की है, उनमें गोरखनाथ, रामानंद, कबीर, तुलसी, सूर, नानक आदि सर्वोत्कृष्ट पुरुष हैं। ईश्वर-संबंधी भाव कबीरदास ने प्रायः सबसे ऊँचे कहे हैं। विचार-पूर्वक पढ़ने से प्रकट होगा कि हिंदी का कोई भी भारी कवि इस विषय में इनकी बराबरी नहीं कर सका है। हिंदी-नवरत्न में ईश्वरीय विचार से आप सबसे ऊँचे मनुष्य हैं, इसमें हमें संदेह नहीं। संभव है, कोई अन्य महाशय गोस्वामी तुलसीदास तथा महात्मा सूरदास को इनसे बढ़कर या इनके बराबर बतलावें। हमारी समझ में ये महात्मा लोग कबीरदास की ईश्वर-संबंधी धार्मिक उच्चता को नहीं पहुँचे। इसमें हिंदू-मुसलमान का विचार करना भूल की बात है। फिर,

वास्तव में, कबीरदासजी के ईश्वरीय विचार उपनिषदों पर ही अवलंबित हैं।

व्यक्तित्व में बहुत ऊँचा कहने के पीछे जब कविता के विषय में कथन करना पड़ता है, तब लेखनी कुछ रुकने लगती है। यह निर्विवाद है कि कबीर साहब उच्च कोटि के कवि भी हैं। स्वयं वर्तमान भारत के कवि-शिरमौर श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर ने इन्हें सत्कवि मानकर इनके बहुत-से पदों का अँगरेज़ी में अनुवाद किया है। उस अनुवाद-ग्रंथ के देखने से भी कबीर साहब का साहित्यिक गौरव ऊँचा जान पड़ता है। इनके मूल पदों में औवल दर्जे का साहित्य-गौरव मिलता है। पर इनकी रचना बहुत विस्तृत है, और चुने हुए छंदों को छोड़कर सब कहीं उसमें वैसा आनंद नहीं आता। ख़ास-ख़ास मौक़ों को छोड़कर, काव्य-दृष्टि से, वह अवश्य फीकी लगती है। फिर भी हमारा दृढ़ सिद्धांत है कि फीके छंदों के कारण किसी के अच्छे छंदों का मान न घटाना चाहिए। कवि का मान सर्वोच्च छंदों से है, साधारण से नहीं। यदि साधारण छंदों को छोड़कर केवल उच्च रचनाओं से कोई कवि ऊँचे स्थान का अधिकारी हो, तो हम साधारण छंदों को इतना तक भुला देंगे, मानो उसने उन्हें रचा ही नहीं। महात्मा कबीरदास के ग्रंथों में कम-से-कम प्रायः २०० पृष्ठ ऐसे निकल सकते हैं, जिनमें उच्च कोटि की कविता है। शेष भागों में उन्हीं विचारों के बार बार आने तथा किसी विशेष चमत्कार के न होने से वैसा काव्यानंद नहीं मिलता। यदि उन भागों को छोड़ दें, तो ये दो सौ पृष्ठ अवश्य उत्तम मिलते हैं। इनमें ईश्वर-संबंधी उच्चातिउच्च विचार हैं। मनोरंजकता की मात्रा भी कम नहीं है। इन्हें हिंदी-नवरत्न के कवियों की रचनाओं से मिलाने पर हमें केवल काव्य की दृष्टि से इन महाकवि का स्थान केशवदास और

मतिराम के बीच में समझ पड़ता है। ऐसा कथन साहस से ख़ाली नहीं, क्योंकि इतने बड़े महात्मा को किसी भी दृष्टि से तुलसी और सूर को छोड़कर और किसी से कम कहना बहुतेरे सुननेवालों को अच्छा नहीं लगेगा, ऐसा भय है। विशेष करके कबीर साहब एक पंथ के भी प्रवर्तक थे। इन विचारों से हम आपको हिंदी-साहित्यकारों में तुलसी और सूर के पीछे प्रायः सर्वोत्कृष्ट मानते हैं, किंतु केवल साहित्य की दृष्टि से केशवदास के पीछे समझते हैं। आशा है, पाठक लोग हमें क्षमा करेंगे; और यदि कोई मतभेद हो, तो हमारा यह कथन हठवाद न समझेंगे, क्योंकि संसार रुचि-प्रधान है। एक को जो वस्तु अच्छी लगती है, वही दूसरे को ख़राब।

यदि कबीर साहब साहित्य की दृष्टि से ग्रंथ बनाते, तो इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस कोटि की इनकी रचना है, उससे बहुत श्रेष्ठ लिख सकते। आपमें सत्कवि होने के सब गुण थे, केवल इच्छा न थी। आपने सत्कवि होना चाहा ही नहीं। आप तो उपदेशक और धर्म-प्रचारक थे। आप काव्य कवि होने को न करके धर्म-प्रचारार्थ करते थे। जहाँ तक हमें स्मरण है, आपने अपने को कवि कहा भी नहीं। लोक-प्रियता में आपकी रचना केवल गोस्वामी तुलसीदास के पीछे है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। आपकी रचना में उद्दंडता अच्छी है। हम उसमें धर्मोपदेशक और गुरु के ओजस्वी वाक्य प्रचुरता से पाते हैं, किंतु मित्र कवि की मीठी, मनोमोहिनी वाणी कम मिलती है। गुरु-पद के अधिकारी होने से आप उच्च शिक्षा कर्कश शब्दों तक में देते हैं, किंतु मित्र न होने से मधुरता का समावेश रचना में नहीं कर सके। मृदुलता-पूर्ण हास्य, शृंगार, वीर आदि रसों का आस्वादन आप कम कराते हैं। अद्भुत रस, भयानक रस, शांत रस, बीभत्स रस आदि के लिये आपके छंद देखने योग्य हैं।

आपका प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ, जब हिंदी अपनी पूर्व प्रारंभिक दशा में थी। आपके पहले सत्कवियों में केवल चंद बरदाई, ख़ुसरो और विद्यापति ठाकुर की गणना है। ऐसे समय में उत्पन्न होकर अनेकानेक ग्रंथों द्वारा आपने हिंदी-साहित्य का बड़ा उपकार भी किया। संसार में आपका मान अच्छा हुआ। रीवाँ के तत्कालीन महाराजा वीरसिंहदेव इनके शिष्य थे।

महाकवि देवदत्त (देव)

देवदत्त, उपनाम 'देव', का जन्म सं० १७३० वि० (सन् १६७४ ई०) में हुआ। इन्होंने स्वयं अपने ग्रंथ भाव-विलास के अंत में, निम्न-लिखित दोहे में, अपना समय कहा—

"सुभ सत्रह सै छियालिस, चढ़त* सोरहीं वर्ष ;
कढ़ी देव-मुख देवता, 'भाव-बिलास' सहर्ष।"

इनके वंशज भोगीलाल का बनाया 'बखतेश-विलास' ग्रंथ मिला है। उक्त ग्रंथ में जो कवि-वंश दिया है, वह इस प्रकार है--

कास्यप गोत्र, द्विबेदि-कुल, कान्यकुब्ज कमनीय ;
देवदत्त कबि जगत मैं भए देव रमनीय ॥ १ ॥
जिनको श्रीनवरंग सुत आजमसाहि सुजान ;
जाहर करो जहान मै मान सहित सनमान ॥ २ ॥
तिनके पुरुषोत्तम भए सकल सुमति के ईस ;
निपुन जु जुक्ति सुउक्ति मैं उद्यत उक्ति फनीस ॥ ३ ॥
तिनके सोभाराम सुत कविबर भए बिनीत ;
सीता श्रीरघुनाथ के चरचे चरन पुनीत ॥ ४ ॥
तिनके भोगीलाल सुत बरनत बखत-बिलास ;

* चैत्र—पाठांतर।

यह बखत-विलास ख़ुद भोगीलाल का लिखा हुआ सं० १८२७ का हमने देखा है, और यह प्रति कुसमरा में पं० मातादीन मास्टर के पास प्रस्तुत है। देव के वंशजों द्वारा जो और वंश-वृक्ष मिला है, वह बड़े ग्रंथ में दिया गया है।

देवजी का मान दिल्लीश्वर के शाहज़ादे आज़म शाह ने किया, तथा भवानीदत्त वैश्य, फफूँद के कुशलसिंह, राजा उद्योतसिंह आदि के नामों पर भी इनके ग्रंथ हैं। अनंतर राजा भोगीलाल को पाकर आपने पहले के आश्रयदाताओं को भुला ही नहीं दिया, वरन् छोड़ भी दिया।

देव सुकबि ताते तजे राइ रान सुलतान ;
रसबिलास लखि रीझिहैं भोगीलाल सुजान।

फिर भी किन्हीं कारणों से यह संसर्ग भी चिरस्थायी न रहा, और इनका मुख्य ग्रंथ शब्द-रसायन किसी को अर्पित नहीं है। अंत में, सं० १८२४ के निकट, आपने सुखसागर-तरंग पिहानी के अकबर-अलीख़ाँ को समर्पित किया। इसके पीछे इनके अस्तित्व का कोई पता नहीं। चाहे आश्रयदाता की खोज में, या किन्हीं अन्य कारणों से, देवजी ने देशाटन बहुत किया। रसविलास में आपने अंतर्वेद, मगध, कोशल, पटना, उड़ीसा, कलिंग, कामरूप, बंगाल, वृंदावन, मालवा, आभीर, बरार, कोकनद, केरल, द्रविड़, तिलंग, कर्णाटक, सिंध, मरु, गुजरात, कुरु, करवीर, पर्वत, भूटान, कश्मीर और सौवीर के वर्णन किए हैं।

ग्रंथ आपके निम्न-लिखित हैं—

भाव-विलास (सं० १७४६), अष्टयाम, भवानी-विलास, कुशल-विलास, प्रेमचंद्रिका, रसविलास (सं० १७८३), शब्द-रसायन, सुखसागर-तरंग (सं० १८२४ के निकट), नीतिशतक, वैराग्यशतक, सुजान-चरित्र, रागरत्नाकर, देवशतक,

सुंदरी-सिंदूर (भारतेंदु-कृत देव के छंदों का संग्रह), शिवाष्टक, सुजान-विनोद, प्रेम-तरंग, देव-चरित्र (श्रीकृष्ण का चरित्र), जातिविलास, देव-माया-प्रपंच-नाटक, वृक्षविलास, नख-शिख, प्रेम-दर्शन, रसानंद-लहरी, प्रेम-दीपिका, सुमिल-विनोद, राधिका-विलास और दुर्गाष्टक। इन २८ ग्रंथों में से प्रायः १५ हमारे देखे हुए हैं। भाव-विलास अथच सुखसागर-तरंग रस-भेद तथा नायिका-भेद के ग्रंथ हैं, और शब्द-रसायन आचार्यता का। यह इनके सर्वोत्कृष्ट तीन ग्रंथों में एक है, अन्य दो रस-विलास और प्रेम-चंद्रिका हैं। ये ग्रंथ बहुत ही उत्कृष्ट हैं। देव-सुधा नाम से इनके २७१ छंदों का सटिप्पण संग्रह हमने भी प्रकाशित कराया है। अन्य ग्रंथों के विषय उनके नामों आदि से प्रकट होंगे। इनके ग्रंथ बहुत ही उत्कृष्ट हैं।

देवजी की कविता का परिचय

(१) देव ने घनाक्षरियाँ सवैयों से अधिक रची हैं। उत्तमता में भी वे सवैयों से न्यून नहीं हैं। इनकी कविता में पृष्ठ-के-पृष्ठ पढ़ते चले जाइए, प्रायः कहीं कोई बुरा छंद न पाइएगा। आपने कई ग्रंथों में वे ही पद्य दो-दो, तीन-तीन बार रख दिए हैं, और कहीं-कहीं एक ही ग्रंथ में वही पद्य दुबारा रख दिया है, यहाँ तक कि यदि किसी मनुष्य ने इनके कई ग्रंथ देखे हों, तो उसको इनके किसी नए ग्रंथ के देखने में उत्कृष्ट नए पद्य बहुत नहीं मिलेंगे। इसका कारण एक यह भी है कि इनके पद्यों में कितने ही पृथक्-पृथक् भाव झलकते हैं। अतः यह महाराज एक ही छंद विविध काव्यांगों के उदाहरणों में रख देते हैं, और वह पूर्णतया बैठ भी जाता है।

इनकी कविता में चोरी बहुत कम है। अधिक निर्लज्जता भी नहीं पाई जाती।

देव महाराज देश-देश घूमे हैं। यह पूर्ण रसिक भी थे।

अतः जहाँ गए, वहाँ की स्त्रियों को इन्होंने बहुत ध्यान-पूर्वक देखा, इन्होंने प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश की स्त्रियों का बड़ा ही सच्चा वर्णन किया।

(२) देव की भाषा शुद्ध व्रज-भाषा है। हिंदी-साहित्य में देव और मतिराम, इन दो कवियों की भाषा सर्वोत्कृष्ट है। इन दोनो की-सी उत्कृष्ट भाषा कोई भी अन्य कवि नहीं लिख सका है। भाषा की कोमलता और सरसता में ये दोनो अन्य कवियों से बहुत बढ़े-चढ़े हैं। इनकी कविता में श्रुति-कटु शब्द ढूँढ़े से भी कम मिलते हैं, और इन महाकवियों ने मिलित वर्णों का प्रयोग जितना कम किया है, उतना कम कोई भी अन्य कवि नहीं कर सका है। इन दोनो की भाषा टकसाली है, विशेषकर देव की अद्वितीय है। इसका कारण यही है कि देव की कविता में भाषा-संबंधी निम्न-लिखित गुण मतिरामवाली से भी कहीं अधिक हैं।

इनकी भाषा में अनुप्रास भरे पड़े हैं। आप जो शब्द उठाते थे, प्रायः उसी प्रकार के कई और शब्द उसके पीछे रखते चले जाते थे ; और जब वह श्रेणी छोड़ते थे, तब उसी के शब्दों का कोई और अक्षर-क्रम उठाकर उसकी समता के शब्द रखने लगते थे। इस प्रकार एक साथ आप कई भाँति के अनुप्रास रख जाते थे। पर ये गुण लाने के वास्ते इनको निरर्थक शब्दों का व्यवहार नहीं करना पड़ा, और प्रायः कहीं भी अपना भाव नहीं बिगाड़ना पड़ा। ऐसे बढ़िया भाव लाकर भी अनुप्रास की सर्वोत्कृष्ट प्रधानता रखने में केवल देवजी कृतकार्य हो सके हैं। किसी अन्य कवि की कविता में इतने अनुप्रास तो हैं ही नहीं, प्रायः इतने प्रचुर और बढ़िया भाव भी नहीं पाए जाते।

इन्होंने कहीं-कहीं प्रचलित लोकोक्तियों को बहुत मनोरम प्रकार से अपनी कविता में रक्खा है। यथा—

"प्राणपति परमेश्वर सों साझो कहौ कौन सो ?"
"गरे परि कौलगि प्यारी कहिए ?"
"कालिह के जोगी कलींदे को खप्पर ।"
"मनु-मानिका दै हरि-हीरा गाँठि बाँध्यो हम,
ताको तुम बनिज बतावत हौ कौड़ी को ।"
"चंचल नैनि चमार की जाई, चितौनि मैं चाम के दाम चलावै ।"
"सूझत साँझ भिया न कछू सुदिया न बरै कहूँ कारे के आगे ।"

देव ने अपनी कविता में बड़े-बड़े विशेषण रक्खे हैं, यहाँ तक कि कहीं-कहीं एक-एक चरण तक के विशेषण लिखे गए हैं—

"नूपुर-संजुत मंजु मनोहर, जावक-रंजित कंज-से पाँयन ।"
"बीच जरतरान की, हीरन के हारन की,
जगमगी जोतिन की, मोतिन की झालरैं ।"

कुल मिलाकर जैसी सुहावनी भाषा यह महाकवि लिखने में समर्थ हुए हैं, उससे आधी सुहावनी भी कोई अन्य कवि नहीं लिख सका है ।

प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थ-व्यक्त, समाधि, कांति और उदारता-नामक गुण देव की रचना में बहुत पाए जाते हैं । कहीं-कहीं ओज का भी चमत्कार है । पर्यायोक्ति, सुधर्मिता, सुशब्दता, संक्षिप्त, प्रसन्नतादि गुणों की भी आपकी रचना में बहार है । कहीं-कहीं अर्थ-काठिन्य भी प्रस्तुत है ।

(३) देव ने प्राकृतिक वर्णन भी बहुत ही अच्छे किए हैं । इनके पद्यों से विदित होता है कि यह महाशय प्रकृति के अच्छे निरीक्षक थे । मानव-प्रकृति के वर्णन में भी इन्होंने क़लम तोड़ दी है ।

देव ने नायिकाओं का वर्णन ऐसा उत्कृष्ट किया है कि पूरी तसवीर खींच दी है । ऐसी सच्ची तसवीरें खींचने में बहुत कम कवि

समर्थ हुए हैं, वरन् यह कहना चाहिए कि ऐसी निर्दोष तसवीरें कोई भी कवि नहीं खींच सका है। इनकी कविता से विदित होता है कि कवि और चित्रकार में कितना घनिष्ठ संबंध है।

भाषा-संबंधी काव्यांगों के साथ हुए कवि ने अन्य काव्यांग भी अपनी रचना में बड़ी ही प्रचुरता से रक्खे हैं। इनके एक-एक छंद में अनेकानेक अलंकार, गुण, लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि, भाव, वृत्ति, पात्र, रस आदि के उदाहरण मिलते हैं, और मानुषीय प्रकृति के निरीक्षण का फल प्रायः सर्वत्र प्रकट है। शब्द-रसायन में ऐसे छंद बहुतायत से मिलेंगे। उसमें स्वयं इन्होंने अपने छंदों के विविध भाव कहीं-कहीं दिखलाए हैं।

जो लोग इनकी रचना में शब्दाडंबर-मात्र देखते हैं, वे हमारी समझ में भारी भूल करते हैं। इनकी भाषा अद्वितीय अवश्य है, किंतु साहित्य-गौरव की तुलना में हम भाषा का पद ऊँचा नहीं समझते। देव ने स्वयं यही मत प्रकट किया है। हम भाव-सबलता देव का मुख्य गुण मानते हैं। उसके लिये देव-सुधा टीका-सहित देखिए। प्रेम का वर्णन आपका अद्वितीय है। प्रेम में आपने दांपत्य-प्रीति की मुख्यता अवश्य रक्खी है, किंतु है वह अौवल दर्जे का। आपने अधिक स्थानों पर केवल नायक या नायिका का कथन नहीं किया है, वरन् प्रायः दोनो का मिला हुआ वर्णन किया है। हमारी समझ में देव के इतर गुण इतने सबल हैं कि इनके भाषा-संबंधी गौरव को बिलकुल छोड़ देने से भी इनका नंबर वही-का-वही रहता है।

मुख्य करके आप आचार्य हैं। भाव-भेद, राग-भेद, अलंकार, पिंगल आदि, सभी में आपकी आचार्यता देख पड़ती है। इनके प्राप्य ग्रंथों में ये सब बातें प्रकट हैं। देव-चरित्र में आपने भगवान् कृष्णचंद्र की कथा भी खूब अच्छी कही है। देव-माया-प्रपंच-नाटक भी दर्शनीय है।

(४) देव ने ऊँचे ख़यालात बहुत ही अधिक बाँधे हैं। ऐसे-ऐसे ऊँचे विचार सब कवियों में नहीं पाए जाते—

"आरसी-से अंबर में आभा-सी उज्यारी लगै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिंब-सो लगत चंद।"

देव के बराबर अमीरी का सामान बाँधनेवाला कोई भी कवि नहीं है। इनके छंदों में हर स्थान पर साज़-सामान ख़ूब देख पड़ता है। इससे विदित होता है कि यह महाराज अमीरों में रहे थे।

इन्हीं ऊँचे विचार और अमीरी से मिलता हुआ अतिशयोक्ति का विषय है। इसका भी देव की कविता में प्रभुत्व रहता है। तो भी इतना कहना पड़ेगा कि स्वभावोक्ति इनका प्रधान गुण है।

इन्होंने ग्रामीण नायिकाओं को इतना बढ़ाया है कि वे अन्य कवियों की नागरी नायिकाओं से भी अधिक नागरी देख पड़ती हैं। देवजी की नागरी नायिकाओं के वर्णन में तो सरसता, कोमलता आदि का वारापार नहीं है। इनका ग्रामीण उदाहरण लीजिए—

"बारियै बैस, बड़ी चतुरै हौ, बड़े गुन 'देव' बड़ीयै बनाई;
सुंदरै हौ, सुघरै हौ, सलोनी हौ, सील-भरी रस-रूप-सनाई।
राजबधू बलि राजकुमारि, अहो सुकुमारि न मानो मनाई;
नैसुक नाह के नेह बिना चकचूर ह्वै जैहै सबै चिकनाई।"

(५) देव की कविता में हृदय पर चोट करनेवाले चित्त के सच्चे भाव बहुत अधिकता से पाए जाते हैं। ऐसे कलेजा निकालकर सामने रख देनेवाले विशद पद्य बहुत कम कवियों की कविता में मिलते हैं। ऐसे पद्य केवल वे ही कवि बना सकते हैं, जो किसी विषय में बिलकुल तल्लीन हो गए हों। ये प्रेमालाप में बहुत आते हैं, अतः प्रेम-चंद्रिका में बहुतायत से आए हैं। प्रेम का आपने अद्वितीयप्राय कथन किया है।

(६) देवजी ने उपमाएँ बहुत खोज-खोजकर दी हैं। उपमा तथा

इससे मिलते हुए रूपक आदि अलंकारों के कुछ उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं—

"उर में उरोज जैसे उमगत पाग है।"

"साँवरेलाल को साँवरो रूप मैं नैनन को कजरा करि राख्यो।"

"देव कछू अपनो बस ना रस लालच लाल चित भई चेरी ;
बेगि ही बूड़ि गईं पँखियाँ अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी।"
(प्रेम-चंद्रिका)

"देवजू द्वार किंवारन ह्वै झँझरीन, झरोखन झाँकि फिरी त्यों ;
दीन ज्यों मीन जरा की भई है, फिरै फरकै पिंजँरा की चिरी ज्यों।"
(प्रेम-चंद्रिका)

"सुघर सोनार रूप सुबरनचोर दृग
कोरि हरि लेत रवा राखत न राई-सी ;
× × ×
घर-घरिया में घुरी, घुरी मैं उघरि आई
फैली जाति फूल नहीं फिरति गराई-सी ;
देवजू सोहाग-रंग आँचन तचाई सोई,
रचना सिराति तची कंचन सिराई-सी।"
(प्रेम-चंद्रिका)

"नाथ्यो जो फनिंद इंद्रजालिक गोपाल गुन
गाड़रू सिँगार रूप-कला अकुलाई है ;
लीलि-लीलि लाज दृग मीलि-मीलि काढ़ी कान्ह,
कीलि-कीलि ब्यालिनी-सी ग्वालिनी बोलाई है।"
(प्रेम-चंद्रिका)

"चौंकि-चौंकि चकित चितौती चहुँ ओर भई
साँझ की-सी चकई चकोरी मनो भोर की।"
(प्रेम-चंद्रिका)

"बालपनो, तरुनापनो बाल को, 'देव' बराबरि केवल बोलै,
दोऊ जवाहिर जौहरी मैन, सु नैन-पलानि तुला धरि तोलै।"

(सुजान-विनोद)

"देव तेऽब गोरी के बिलात गात बात लगे,
ज्यों-ज्यों सीरे पानी पीरे पान से पलटियत।"

(सुजान-चरित्र)

"पतिब्रत-ब्रती यै उपासी प्यासी अँखियन,
प्रात उठि पीतम पियायो रूप पारनो।"
"बड़े-बड़े नैनन ते आँसू भरि-भरि ढरि,
गोरो-गोरो मुख आजु ओरो-सो बिलानो जात।"

(सुजान-चरित्र)

"बेलि बधून सों केलि कै पौन अन्हाय सरोजन के रसभीने;
नायक लौं निकसो तजि कुंजन गुंजन सों अलि पुंजन लीने।"

(देव-माया-प्रपंच-नाटक)

"कुल की-सी करनी, कुलीन की-सी कोमलता,
सील की-सी संपति सुसील कुल कामिनी;
दान को-सो आदर, उदारताई सूर को-सी,
गुनी की लुनाई, गुनमंती गजगामिनी।
ग्रीषम को सलिल, सिसिर को-सो घाम 'देव',
हेउँत हसंती, जलदागम की दामिनी;
पून्यो को-सो चंद्रमा, प्रभात को-सो सूरज,
सरद को-सो बासर, बसंत की-सी जामिनी।"

(देव-माया-प्रपंच-नाटक)

"हाय दई, यहि काल के ख्याल मैं फूल-से फूलि सबै कुम्हिलाने।"

(देव-माया-प्रपंच-नाटक)

"ताहि चितौत बड़ी अँखियान ते,
तीकी चितौनि चली अति ओज की ;
आलम ओर बिलोकि कै बाल,
दई मनो खैंचि स-नाल सरोज की।"
(सुजान-चरित्र)

"आरसी-से अंबर मैं आभा-सी उज्यारी लगै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिंब-सो लगत चंद।"
(सुजान-चरित्र)

"आलम के उर मैं ऊरमै, सु-सदा लपटी रहै माल-पटी-सी।"
(सुजान-चरित्र)

(७) देवजी ने बहुत-से चोज भी कहे हैं। यथा—
"जोगहू ते कठिन सँजोग पर-नारी को।"
"सुख थोरो अरु दुख बड़ो परकीया की प्रीति।"

(८) इनकी कविता से विदित होता है कि यह अभिमानी भी बड़े थे, और इन्हें किसी की बरदाश्त न थी। इनकी बहुज्ञता भी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। बहुत-से विषयों का इन्हें ज्ञान था। इतने अनमेल विषयों पर हमारे किसी महाकवि ने कविता नहीं की है। इन्होंने काव्य-रीतियों पर भी बड़ी दृढ़ता से गमन किया है।

उक्तियों का देव की कविता में अच्छा समावेश है। अन्योक्ति, लोकोक्ति, स्वभावोक्ति आदि के आपने श्रेष्ठ उदाहरण दिए हैं। काकु, अत्यंत तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि आदि के अच्छे उदाहरण इनकी रचना में मिलेंगे। इशारों तथा ध्वनियों में कहीं-कहीं आपने बड़े चमत्कार-पूर्ण भाव रक्खे हैं। बहुत स्थानों पर अनेकानेक भावों का आपने एक ही छंद में बड़ा विशद वर्णन किया है। ऐसा भाव-समुच्चय बड़े-बड़े कवि ही दिखला सकते हैं। लाज, मन आदि को संबोधित करके देव ने कई बहुत अच्छे-अच्छे छंद कहे हैं। प्रेम और योग तथा योग और वियोग

को मिला-मिलाकर आपने अच्छे-अच्छे भाव दिखलाए हैं। प्रकृति-निरीक्षण के छंदों की संख्या कम नहीं है। आपने अनेक अनमेल विषयों पर सफलता-पूर्वक रचना की है, जैसा कि इनके ग्रंथों से विदित होगा। आप भाषा-साहित्य के बहुत बड़े आचार्य थे। दशांग कविता पर अनेकानेक रीति-ग्रंथ बना चुके हैं, और भाव-भेद, रस-भेद तथा प्रेम का कई बार भिन्न-भिन्न प्रकार से अनूठा, हृदयग्राही तथा मनोरम वर्णन किए हुए हैं। आपकी रचना में शृंगार-रस की विशेषता अवश्य है, फिर भी उसमें सदैव सदुपदेश दिए गए हैं, और प्रेम का भाव बहुत ऊँचा रक्खा गया है। शृंगारी कवि होने पर भी आपने वैराग्य, राग, माया, आत्मज्ञान, वृत्त, पावस, नीति आदि पर अनमोल ग्रंथ रचे हैं। कवि-कर्तव्य आपकी सम्मति में कितना ऊँचा है, यह दिखाने को आपका एक छंद यहाँ दिया जाता है—

"जाके न काम, न क्रोध, बिरोध न, लोभ छुवै नहिं छोभ को छाहौं;
मोह न जाहि रहै जग-बाहिर, मोल जवाहिर ता अति चाहौं।
बानी पुनीत ज्यों देव-धुनी, रस-आरद सारद के गुन गाहौं;
सील ससी सबिता छबिता कबिताहि रचै कबि ताहि सराहौं।"

(प्रेम-चंद्रिका)

(६) देवजी की कविता के गुण-दोष हम सूक्ष्मतया ऊपर दिखा चुके। यों तो इनकी कविता के गुण अगाध हैं, और उनका वर्णन करना कठिन काम है, तथापि यथासाध्य हमने उनको थोड़े में स्थालीपुलाक-न्याय से दिखा दिया है।

कुछ लोगों का यह भी विचार है कि बिहारीलाल देव से श्रेष्ठ कवि हैं। किसी-किसी को यहाँ तक संदेह हुआ है कि हमने बिहारी का वर्णन जो नवरत्न में किया है, उसका एकमात्र अभिप्राय उस महाकवि की निंदा करनी है। ऐसे लोगों से हम क्षमा के प्रार्थी हैं, और उन्हें निश्चय दिलाते हैं कि हमने जो कुछ लिखा

है, वे हमारे शुद्ध विचार हैं। उनका कहना है कि देव के कितने ही छंद बहुत कठिन हैं, अतः रचना में प्रसाद-गुण नहीं है। यदि १०० छंदों में दस-पाँच कठिन हों, जैसा कि है भी, तो पूरी रचना में प्रसाद का अभाव नहीं माना जा सकता। इसी भाँति यदि देव ने कुछ शब्द मरोड़े हों, तो कोई हानि नहीं, क्योंकि ऐसे शब्दों का पड़ता इनकी रचना में अधिक न बैठेगा।

देवजी की कविता में जो गुण हैं, वे अद्वितीय हैं। ऐसी बढ़िया कविता किसी कवि के किसी ग्रंथ में, एक स्थान पर, नहीं पाई जाती। जैसे विशद छंद इनकी रचना में सैकड़ों पाए जाते हैं, वैसे छंद किसी ग्रंथ में, किसी स्थान पर, न निकलेंगे। ये सब बातें होते हुए भी हम इनको भाषा-साहित्य में सर्व-श्रेष्ठ कवि नहीं कह सकते। इनको किसी कवि से न्यून कहना शायद इनके साथ अन्याय समझ पड़े, परंतु इनको सर्वश्रेष्ठ कहना गोस्वामी तुलसीदास तथा महात्मा सूरदास के साथ भी अन्याय होगा। सिवा इन दोनो महात्माओं क और किसी तृतीय कवि को तुलना देवजी से कदापि नहीं की जा सकती। शेष कवियों से और देवजी से बड़ा अंतर है, और जो देवजी के प्रधान गुण हैं, उनमें इनकी कविता और उपर्युक्त दोनो महात्माओं की कविता में भी बहुत बड़ा अंतर है; क्योंकि वे महात्मा भी उन गुणों को अपनी-अपनी कविता में सन्निविष्ट करने में देवजी के सामने नितांत असमर्थ रहे हैं, परंतु जो बहुतेरे गुण सूरदास तथा तुलसीदास की कविता में हैं, वे गुण देवजी भी नहीं ला सके हैं।

हिंदी-साहित्य के इतिहास-लेखकों में से पाँच महाशयों के देव-विषयक उन विचारों का सारांश यहाँ दिया जाता है, जो उन्होंने अपने इतिहास-ग्रंथों में प्रकट किए हैं—

सूर्यकांतजी शास्त्री

कविभिर्ह्तलावण्यां कवितांकामिनीं रसैः;
सकटाक्षां पुनश्चक्रे देवो रसिकनन्दनः ।

"भाषा और शैली की दृष्टि से देव का स्थान ऊँचा है । छंद की रचना में, विशेषणों की छाँट में, तुलनाओं की खींच में, घरेलू कहावतों की खोज में, नायिकाओं के भाव-प्रदर्शन में और विरह के स्वाभाविक वर्णन में देव अद्वितीय है । ......जीवन के प्राकृतिक व्याख्यान में देव पहुँचा हुआ है । उसने प्रेम और प्रेम के साथ संबंध रखनेवाले भावों के एक-एक पहलू को पकड़ा, और उसे भावना की कूँची से जगमग कर दिया । ..देव महाकवि था । उसने नवीन मार्ग की ओर चलने का प्रयत्न किया, और वह बहुत कुछ अपने इस प्रयत्न में सफल हुआ ।"

रा० ब० डॉ० श्यामसुंदरदास

"देव ने प्रतिभा का उपयोग सत्कविता में किया । इनका काव्य-क्षेत्र बड़ा व्यापक और विस्तृत था । देव की सौंदर्य-विवृति सत्य, अतः मर्मस्पर्शिनी है । उनके अंतस्तल की पुकार सुन पड़ती है । रचनाएँ बहुत ही संयत हुई हैं । देव की रचनाओं में जो क्रमिक विकास देख पड़ता है, वह सच्चे कवि के लिये परमावश्यक है । हिंदी-काव्य-क्षेत्र में सहृदय और प्रेमी कवि देव को रीति-काल का प्रमुख कवि स्वीकार करना पड़ता है ।"

पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय

"देव की भाषा साहित्यिक व्रज-भाषा है, और उनकी लेखनी ने उसमें साहित्यिकता की परा काष्ठा दिखलाई है । उनकी रचनाओं में शब्द-लालित्य नर्तन करता दृष्टिगत होता है, और अनुप्रास इस सरसता से आते हैं कि अलंकारों को भी अलंकृत करते जान पड़ते हैं ।"

डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'

"आपकी प्रतिभा बहुमुखी है तथा आप कवि और आचार्य दोनो हैं। यह प्रथम रसवादी हैं, बाद को चमत्कारवादी। समस्त रचनाओं में मौलिकता की छाप है। भाषा परिपक्व, प्रौढ़, सुव्यवस्थित व्रज-भाषा है। शब्दालंकारों का अच्छा प्रयोग है, किंतु निरर्थक शब्दाडंबर नहीं। कठिन-से-कठिन तुकों का निर्वाह है। पदावली सुव्यवस्थित और गठी हुई है। भाषा भावगम्य है और मुहाविरेदार भी। वह चमत्कृत और अलंकृत भी ख़ूब है। उपमाएँ बड़ी ही मौलिक और उपयुक्त हैं। रूपक भी बड़े ही चित्रोपम हैं। उक्तियाँ भी बड़ी विचित्र और चुभती हुई हैं।"

पंडित रामचंद्र शुक्ल

"आचार्य के रूप में इन्हें कोई विशेष स्थान नहीं दिया जा सकता। कवित्व-शक्ति और मौलिकता देव में ख़ूब थी। भाषा में रसार्द्रता और चलतापन कम है। कहीं-कहीं शब्द-व्यय बहुत अधिक है, और अर्थ बहुत अल्प। अक्षर-मैत्री के ध्यान में कहीं-कहीं अशक्त शब्द रखते थे, और अर्थ को आच्छन्न करते थे। रीति-काल के कवियों में यह बड़े ही प्रगल्भ और प्रतिभा-संपन्न कवि थे, इसमें संदेह नहीं।"

हिंदी-साहित्य के भारी इतिहास-लेखकों में से इनके विषय में पाँच समालोचकों की सम्मतियाँ ऊपर लिखी गई हैं। देव की विदग्धता और भारी कवित्व-शक्ति सबको स्वीकृत है, केवल शुक्लजी इनकी भाषा के विषय में कई अनुचित एवं असमर्थनीय कथन करते हैं। इस विषय में हमको छोड़कर भी उनकी सम्मति पाँच में केवल एक है। साहित्य के इतिहासकारों में वह सम्मति कहीं भी समर्थित नहीं हुई। कवि के गौरव को ऊँची रचनाओं पर आँकना चाहिए, बुरी पर नहीं। जिनकी उत्कृष्ट रचनाएँ श्रेष्ठ हैं, वे भी सत्कवि हैं। यदि शुक्लजी का-सा हठवाद माना जाय, और कवि लोग बढ़िया रचनाओं के स्थान

पर गिरी हुई कृतियों से जाँचे जाय, तो हम गोस्वामी तुलसीदास एवं सूरदास तक को बहुत ही साधारण कवि प्रमाणित कर सकेंगे। उत्कृष्ट छंदों पर जाँचने से देव को हिंदी-साहित्य में तुलसी और सूर के ही पीछे स्थान मिलेगा।

देवजी की रचना के कुछ उदाहरण आगे लिखे जाते हैं—

प्रेम-चंद्रिका

आँखिन आँखि लगाए रहैं, सुनिए धुनि कानन को सुखकारी ;
'देव' रही हिय मैं घरु कै, न रुकै, निसरै, बिसरै न बिसारी।
फूल मैं बासु ज्यों मूल सुबासु की, है फलि-फूलि रही फुलवारी ;
प्यारी उज्यारी हिये भरिपूरि, सुदूरि न जीवनमूरि हमारी ॥ १ ॥

एकै अभिलाख लाख-लाख भाँति लेखियत,
देखियत दूसरो न 'देव' चराचर मैं ;
जासों मनु राचै तासों तनु मनु राचै, रुचि
भरि कै उघरि जाँचै साँचै करि कर मैं।
पाँचन के आगे आँच लागे ते न लौटि जाय,
साँच देइ प्यारे को सती लौं बैठि सर मैं ;
प्रेम सों कहत कोई ठाकुर न ऐंठो, सुनि,
बैठो गड़ि गहिरे तौ पैठो प्रेम-घर मैं ॥ २ ॥

औचक अगाध सिंधु स्याही को उमड़ि आयो,
तामैं तीनौ लोक बूड़ि गए एक संग मैं ;
कारे-कारे आखर लिखे जु कारे कागर,
सु न्यारे करि बाँचै कौन जाँचै चितभंग मैं।
आँखिन मैं तिमिर अमावस की रैनि जिमि,
जंबु - रस - बुंद जमुना जल तरंग मैं ;
यों ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यो माई,
स्याम रंग ह्वै करि समान्यो स्याम रंग मैं ॥ ३ ॥

वारै कोटि इंदु अरबिंदु रस-बिंदु पर,
  मानै ना मलिंद बिंदुसम कै सुधासरो ;
मलै, मल्लि, मालती, कदंब, कचनार, चंपा,
  चपेहू न चाहै चित चरन टिकासरो ।
पदुमिनि तुही षटपदु को परम पदु,
  'देव' अनुकूल्यो और फूल्यो तौ कहा सरो ;
रस, रिस, रास, रोस आसरो सरन, बिसे
  बीसो बिसवास रोकि राख्यो निसि-बासरो ॥ ४ ॥

(५)

महाकवि बिहारीलाल

बिहारी कवि चतुर्वेदी माथुर, घरवास अल्ल के धूम्र-गोत्री ब्राह्मण थे। बसुआ-गोविंदपुर में इनके भांजे मिश्र अल्लवाले कुलपति रहते थे। कुलपति के वंशज पं० प्यारेलाल जयपुर में मौजूद हैं। बिहारीलाल के वंशज अमरकृष्ण और गोपीकृष्ण बूँदी में प्रस्तुत हैं।

बिहारी का जन्म अनुमान से संवत् १६६० वि० में हुआ होगा। इन्होंने संवत १७१९ में सतसई समाप्त की, और उसके पीछे कोई ग्रंथ या छंद नहीं बनाया। इससे जान पड़ता है, इस संवत् के थोड़े ही दिनों पीछे इनका मरण हुआ होगा। सतसई में कुछ दोहे शांत-रस के भी हैं। जान पड़ता है, उस समय, जब कि सतसई समाप्त हुई, यह लगभग ६० वर्ष के होंगे। यह जयपुर छोड़कर, सिवा जोधपुर के, और कहीं नहीं गए। वहाँ भी ठहरकर इन्होंने अपना मान बढ़ाने का प्रयत्न नहीं किया, यद्यपि उस समय महाराज जसवंतसिंह वहाँ राज्य करते थे। वह कविता के प्रेमी थे। इन्हें लड़कपन बुंदेलखंड में, जहाँ इनका ननिहाल होना संभव है, और सारी उमर ससुराल—मथुरा—में बितानी पड़ी।

कहते हैं, एक समय महाराजा जयसिंह किसी एक नवोढ़ा मुग्धा रानी के प्रेम में इतने बेसुध हो गए कि उसे छोड़कर बाहर निकलते ही न थे। उस समय बिहारीलाल ने नीचे का दोहा बनाकर किसी प्रकार उनके पास भिजवाया—

"नहिं पराग, नहि मधुर मधु, नहिं बिकास यहि काल;
अली कली ही सों बिधो, आगे कौन हवाल !"

इसे पढ़कर महाराज को चेत हुआ, और वह तुरंत प्रेमोन्माद से मुक्त होकर बाहर निकल आए, तथा राज्य का काम-काज करने लगे। इसी समय से जयपुर में बिहारी का आदर बढ़ा, और यह वहीं रहने लगे। कहते हैं, राजा ने उपर्युक्त दोहे पर इन्हें बड़ा पुरस्कार दिया, और फिर वैसे ही हर दोहे पर एक-एक मोहर भी दी।

इस एक छोटे ग्रंथ में इन कविरत्न ने मानो गागर में सागर भर दिया है। इन्हीं १४५२ पंक्तियों में मानो सभी कुछ आ गया है, और कविता का प्रायः कोई अंग, सिवा पिंगल के, नहीं छूटा। काव्य का यह छोटा-सा कोष पाठक को चकित और स्तंभित कर देता है। इतने छोटे-से ग्रंथ में इतना चमत्कार अन्य कोई भी हिंदी-कवि नहीं ला सका जैसी एकाग्रता और श्रम से इन कविरत्न ने काव्य का प्रताप-पुंज या चमत्कार इस छोटे-से भाजन में भर रक्खा है, वैसे ही इसका आदर भी बहुत कुछ हुआ। सिवा गोस्वामी तुलसीदास की रामायण के और कोई भी भाषा-ग्रंथ इतनी लोक-प्रियता नहीं पा सका, जितनी सतसई ने पाई है। प्रायः ३५ महाशयों ने इसकी, गद्य अथवा पद्य में, टीका या व्याख्या की है।

सतसई का जो क्रम आजकल प्रचलित है, वह आज़मशाह का बँधवाया हुआ और अच्छा भी है। इसका छठा शतक परमोत्कृष्ट है। इसमें वर्णित षट्-ऋतु बहुत ही प्रशंसनीय है। इसके प्रथम, पंचम और सप्तम शतक भी अच्छे हैं। शेष साधारण हैं। बिहारीलाल की कविता के गुण और दोष हम नीचे लिखते हैं।

इन महाकवि ने व्रज-भाषा में कविता की, परंतु फिर भी, यत्र-तत्र कई भाषाओं के शब्दों का बहुतायत से व्यवहार किया। किसी भाषा का भी शब्द मिले, और यदि अच्छा हो, तो उससे काम निकालने में यह महाशय संकोच नहीं करते थे। यदि इनके प्रयुक्त शब्दों के भाषा-

भेद पर विचार किया जाय, तो ऐसे भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्दों की संख्या बहुत होगी। इन्होंने रीझबी, देखबो आदि बुँदेलखंडी और ताफ़ता, इज़ाफ़ा, क़िबिलनुमाँ (क़ुतुबनुमाँ), ग़नी, सबील, अदब, दाग़ आदि फ़ारसी के शब्द रक्खे हैं। छाँकु, उड़ायक आदि पद गढ़ भी लिए हैं। कुछ स्थानों पर इन्होंने असमर्थ शब्द भी रख दिए हैं।

कुछ दोषों के होने पर भी इन कविरत्न की बोल-चाल बहुत ही स्वाभाविक है। यथा--

"नेह तरेरी ओर करि, कत करियत दृग लोल ;
लीक नहीं यह पीक की स्रुति-मनि-झलक कपोल।"

इन महाकवि ने इबारत-आराई भी ख़ूब ही की है—

"कुंज-भौन तजि भौन को चलिए नंद-किसोर ;
फूटत कली गुलाब की चटकाहट चहुँ ओर।"

"केसरि के सरि क्यों सकै, चंपक कितक अनूप ;
गात-रूप लखि जात दुरि जातरूप को रूप।"

बिहारीलाल नें यमक और पद-मैत्री को बड़ा ही आदर दिया, और इनका प्रयोग भी बड़ा मनोरंजक किया है।

दो-चार स्थानों पर इन्होंने पद-मैत्री के साथ श्लेष-काव्य भी किया है। यथा—

"खेलन सिखए अलि भलै, चतुर अहेरी मार ;
काननचारी नैन-मृग, नागर-नरनु सिकार।"

परंतु शब्दों के बनाव में इन महाकवि ने उद्दंडता आदि गुण भी हाथ से नहीं जाने दिए हैं। उद्दंडता का उदाहरण—

"फिरि-फिरि चित उतही रहत, टुटी लाज की लाव ;
अंग-अंग छबि-झौर में भयो भौंर की नाव।"

कुल बातों पर ध्यान देने से विदित होता है कि बिहारीलाल की भाषा बहुत मनोहर है। इन्होंने सभी स्थानों पर लहलहात,

झलमलात, जगमगात आदि ऐसे-ऐसे बढ़िया और सजीव शब्द रक्खे हैं कि अधिक विशद भाव न होने पर भी दोहा चमचमा उठता है। इसी प्रकार, जैसा वर्णन किया है, उसी के अनुसार भाषा भी लिखकर उसका रूप खड़ा कर दिया है।

इन कवि ने अत्युक्ति में क़लम तोड़ दी है, विशेषकर कोमलता, उज्ज्वलता और विरह के वर्णनों में। इन महाकवि ने उपमाएँ बड़ी ही अच्छी और अनोखी खोज-खोजकर दी हैं, तथा उत्प्रेक्षाएँ और रूपक भी बड़े ही चोखे कहे हैं—

"भो मन मोहन-रूप मिलि पानी में को लोन।"
"माईं-सिर कच सेत ज्यों बीत्यो चुनति कपास।"
"जाके तन की छाँह ढिग जान्ह छाँह-सी होति।"
"अरगट ही फानूस-सी परगट होति लखाय।"
"भरत, ढरत, बूड़त, तिरत, रहट-घरी लौं नैन।"
"आली, बाढ़ै बिरह, ज्यों पंचाली को चीर।'
"दृग थरकौहैं अध - खुले, देह थको हैं डार,
सुरति-सुखित-सी देखिए दुखित गरभ के भार।"

बिहारी की दृष्टि संसार-भर के सभी पदार्थों पर बड़ी पैनी पड़ती थी, और यह महाशय अपने मतलब की बात ख़ूब देख लेते थे। इन्होंने रंगों और उनके मिलाव का बड़ा श्लाघ्य वर्णन किया है। यथा—

"मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोय;
जा तन की भाईं परे स्याम हरित दुति होय।"
"सोन जुही-सी होति दुति मिलति मालती-माल;"
"देखो सोनजुही फिरत, सोनजुही - से अंग,
दुति लपटन पट सेतहूँ, करत बनौटी रंग।"

"अधर धरत हरि के परत ओंठ डीठि पट जोति ;
हरित बाँस की बाँसुरी इंद्र-धनुष-रँग होति।"
"सोनजुही-सी जगमगै अँग-अँग जोबन-जोति ;
सुरँग कुसुंभी कंचुकी, दुरँग। देह-दुति होति।"
"कंचन तन धन बरन-बन रह्यो रंग मिलि रंग ;
जानी जाति सुबास ही केसरि लाई अंग।"

इन कविवर ने रंगों के साथ संसार और प्रकृति का भी निरीक्षण बहुत अच्छा किया है, विशेषकर मानुषी प्रकृति का। इनके प्रायः सभी दोहों में प्रकृति-पर्यवेक्षण देख पड़ता है। निम्न-लिखित दोहे इस गुण के प्रधान उदाहरण हैं—

"रह्यो मोहु, मिलनो रह्यो, यों कहि गहे मरोर ;
उत दै आलिहि उराहनो, इत चितई मो ओर।"
"छल सों चली छुआय कै छिनकु छबीली छाँह ;"
"ज्यों-ज्यों बढ़ति बिभावरी, त्यों-त्यों खरी उताल ;
झमकि-झमकि टहलैं करै, लगी रहचटैं बाल।"
"ज्यों उझकति, झाँपति बदन, बिहँसति अति सतराय ;
त्यों गुलाल झूठी-मुठी, झुठकावत प्यौ जाय।"
"ज्यों-ज्यों पट झटकति, हँसति, हठति, नचावति नैन ;
त्यों-त्यों परम उदार हू फगुआ देत बनै न।"
"बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाय ;
सौंह करै, भौंहन हँसै, देन कहै, नटि जाय।"

इन अंतिम तीन दोहों में इन कवि ने देर-देर तक की बातचीत एक-एक दोहे में भर दी है।

इन्होंने अपने बहुत-से ऐसे ऊँचे और ख़ास विचार लिखे हैं कि इनके चातुर्य की प्रशंसा किए विना नहीं रहा जाता।

"करति मलिन आछी छबिहि, हरत जु सहज बिकासु ;
अंगराग अंगनि लग्यो, ज्यों आरसी उसासु।"
"पहिरि न भूषन कनक के, कहि आवत यहि हेत ;
दरपन के - से मोरचे देह दिखाई देत।"
"अंग-अंग प्रतिबिंब परि दरपन-से सब गात ;
दोहरे, तिहरे, चौहरे, भूषन जाने जात।"

ऊँचे ख़यालात भी देखने योग्य हैं—

"वाहि लखे लोयन लगै, कौन जुवति की जोति ;
जाके तन की छाँह-ढिग जोन्ह छाँह-सी होति।"

दूर की कौड़ी भी अच्छी लाते थे—

"भई जु तन छबि बसन मिलि, बरनि सकै सु न बैन ;
अंग-ओप आँगी दुरी, आँगी अंग दुरै न।"

बारीक ख़यालात भी ख़ूब ही रक्खे हैं—

"मानहु बिधि-तन अच्छ छबि, स्वच्छ राखिबे काज ;
दृग-पग पोंछन को किए भूखन - पायदाज।"
"भींगे तन दोऊ कँपत, क्यौं हूँ जपु निबरै न।"

बिहारी ने अपनी कविता में धर्म-संबंधी आचार-विचारों एवं ऐतिहासिक घटनाओं का भी बहुत हवाला दिया है। इसी प्रकार लोगों के विश्वासों पर भी इनके कई पद्य अवलंबित हैं—

"पूस-मास सुनि सखिन पै साईं चलत सवार ;
लै कर बीन प्रबीन तिय गायो राग-मलार।"

इसमें विश्वास यह है कि मलार गाने से पानी बरसे, और पूस की वृष्टि अकाल-वृष्टि है। इस पर विश्वास है कि जो अकाल-वृष्टि के दिन घर से चले, उसकी अकाल-मृत्यु हो, सो मलार गाने से पति न जा सकेगा।

"फिरत काग-गोलक भयो दुहूँ देह जिय एक।"—इसमें यह

विश्वास है कि कौए की आँख का गोला एक ही होता है, और वह इच्छानुसार उस गोले को किसी भी आँख में लाकर देख सकता है। पर वास्तव में यह बात नहीं है। "कछु जानत थल-थंभ-बिधि दुरजोधन-लौं लाल।" कहा जाता है, दुर्योधन जल-स्तंभन-विधि जानते थे। बिहारी ने, अंतिम शतक में, कुछ दोहे नीति और शिक्षा के भी अच्छे कहे हैं।

"जो सिर धरि महिमा मही लहियत राजा-राय ;
प्रगटत जड़ता आपनी, सु-मुकुट पहिरत पाय।"
"सीतलता रस बास की घटै न महिमा मूर ;
पीनसवारे जो तजैं सोरा जानि कपूर।"
"बड़े न हूजैं गुननि बिनु बिरद बड़ाई पाय ;
कनक धतूरे सों कहत गहनो गढ़ो न जाय।"
"कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय ;
वह खाए बौरात नर, यह पाए बौराय।"
"बढ़त-बढ़त संपति-सलिल मन-सरोज बढ़ि जाय ;
घटत-घटत पुनि नहि घटै; बरु समूल कुम्हिलाय।"

इन महाकवि ने यत्र-तत्र अपनी कविता में मज़ाक़ भी ख़ूब रक्खे हैं। इसके उदाहरण हर जगह मिलेंगे।

बिहारीलाल ने आँखों का भी अच्छा वर्णन किया है। बहुत-से दोहे प्रधान अथवा गौण रूप से आँखों के विषय में हैं। इन्होंने नेत्रों की लड़ाई का भी कथन किया है। आँखों में आँख लगने से आँख नहीं लगती, डीठि में डीठि पड़ने से डीठि किरकिरी हो जाती है, इत्यादि इनके बड़े रुचिकर विषय हैं। कई स्थानों पर इन्होंने कानन (जंगल), कान और नैन का संबंध दिखाकर वर्णन किए हैं। साधारण-सी बात भी बिहारी इस भाँति कहते हैं कि वह बहुत बढ़िया लगती है। इन्होंने रुखाई और चिकनाई का साथ-साथ ख़ूब वर्णन किया है—"रूखे कैसे

होत ये नेह-चीकने नैन ?'' दोहा एक बहुत ही छोटा छंद है, अतः इसमें यह गुण है कि थोड़ी-सी भी उत्तमता होने से चमक उठता है। यदि सवैया या घनाक्षरी में उतनी ही उत्तमता हो, तो शेष अंश में भरती के पद लाने पड़ेंगे, जिससे कुल छंद शिथिल हो जायगा। इस कारण भी बिहारी के दोहे बड़े भले लगते हैं, और इनका यश उज्ज्वल बनाए हुए हैं। यह असंभव समझ पड़ता है कि बिहारी ने समस्त जीवन रचना करके भी केवल ७०० दोहे बनाए हों। हमारा तो अनुमान है कि इन्होंने हज़ारों दोहे बनाए होंगे; उनमें से ये ७०० छंद चुन लिए, और शेष साधारण या शिथिल दोहों का मोह न करके उन्हें नष्ट कर डाला। कविजन अपने बुरे पद्यों पर भी पुत्रवत् स्नेह रखते हैं, परंतु बुरे लड़कों की भाँति भले लड़कों का भी भाग बाँटकर वे पैतृक संपत्ति छिन्न-भिन्न कर देते हैं।

इनकी कविता में काइयाँपन भरा पड़ा है। अतः उसमें इशारेबाज़ी की भी कोई हद नहीं है। इनके पद्य इतने अच्छे हैं कि बहुत-से मसले-से हो गए हैं—'बातैं हाथी पाइए, बातैं हाथी पाँव' इत्यादि। इनके सामयिक दोहे प्रायः मौक़े-मौक़े पर कहे जाते हैं।

हिंदी में केवल बिहारीलाल ने उर्दू के ढंग की कविता रची है, और इन्हें उसमें कृतकार्यता मिली है। इनके बराबर किसी ने भी चाज नहीं कहे, और इनकी कविता सब सत्य है। यह आप-बीती ख़ूब कहते और जग-बीती भी ख़ूब देखते थे। स्त्रियों के कोमल स्वभाव के विषय में इन रसिक-शिरोमणि का निष्कर्ष दर्शनीय और प्रत्येक विवाहित मनुष्य के पूर्णतया ध्यान देने योग्य है—

"पति ऋतु औगुन गुन बढ़त मान माह को सीत ;
जात कठिन ह्वै अति मृदौ, रवनी-मन-नवनीत।"

इसी प्रकार की बातों के बाहुल्य के कारण सतसई पढ़ने में चित्त कभी उकताता नहीं है। यह बड़ा ही चित्ताकर्षक ग्रंथ है। इसके

कुछ दोहे तो ऐसे हैं कि उनके तात्पर्य थिएटरों में ऐक्ट करने के योग्य हैं। इस कथन के उदाहरण-स्वरूप वे तीन दोहे समझने चाहिए, जो ऊपर प्रकृति-पर्यवेक्षणवाले उदाहरणों के अंत में लिखे गए हैं। जयपुर के आमेर-गढ़ांतर्गत शीश-महल का भी इन्होंने बड़ा अच्छा वर्णन किया है।

"प्रतिबिंबित जयसाहि-दुति-दीपति दर्पन धाम ;
सब जग जीतन को कियो काय-व्यूह मनु काम।"

इस शीश-महल को हमने भी देखा है। इसमें हज़ारों छोटे-बड़े अंगुल-अंगुल, डेढ़-डेढ़ अंगुल के शीशे लगे हैं। हर ओर दर्शकों का स्वरूप देख पड़ता है, और सचमुच यह जान पड़ता है कि कायव्यूह-सा बना है। इसकी उपमा बड़ी ही सच्ची है।

बिहारी ने बहुत-सी बातों का वर्णन किया है। स्त्री को यह सबसे अधिक चित्ताकर्षिणी समझते हैं—

"यक भीजे चहले परे, बूड़े बहे हजार ;
किते न औगुन जग किए, नै वै चढ़ती बार।"
"ताहि देखि मन तीरथनि बिकटनि जाय बलाय ;
जा मृगनैनी के सदा बेनी परसति पाय।"

कुछ बातें सोचकर हम बिहारी को एक बड़ा सत्कवि समझते हैं। तुलसीदास, सूरदास और देव को छोड़कर यह महाशय हिंदी में सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। भूषण भी इनकी समानता को पहुँच-से जाते हैं।

(६)

त्रिपाठीबंधु

महाकवि भूषण

आप रत्नाकर के पुत्र तिकवाँपुर ज़िला कानपुर-निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण तिवारी थे। चिंतामणि, मतिराम और जटाशंकर आपके भाई कहे जाते हैं। ये सब सुकवि थे। भूषण पहले निकम्मे थे, किंतु पीछे प्रयत्न करके सुकवि हो गए। आपके ग्रंथों में शिवराजभूषण, भूषण-हज़ारा, भूषण-उल्लास और दूषण-उल्लास कहे जाते हैं, किंतु अंतिम तीन अप्राप्त हैं। उनके स्थान पर शिवाबावनी, छत्रसाल-दशक और स्फुट कविता के ग्रंथ अब प्रस्तुत हैं। अनुमान से आपका समय सं० १६६२ से १७६७ तक समझ पड़ता है। सं० १७०६ में उत्पन्न महाराज छत्रसाल को आप लाल छितपाल कहते थे, तथा इधर असोथरवाले राजा भगवंतसिंह की मृत्यु (सं० १७६५) पर आपका एक छंद है, यथा—"भूप भगवंत सुरलोक को पयान कियो, अरराय टूट्यो कुल खंभ हिंदुवाने को।"

चित्रकूट-पति सुलंकी राजा रुद्र ने सं० १७२० के निकट आपको भूषण की उपाधि दी। सं० १७२३ में आप महाराजा शिवाजी के दरबार में उपस्थित होकर सम्मानित हुए। उसी समय से सं० १७३० तक आपका प्रसिद्ध ग्रंथ शिवराजभूषण बना। इसमें जाति-प्रेम और देश-प्रेम की अच्छी बहार है। भयानक रस का रंजन बहुत श्रेष्ठ हुआ है। सारे देशी नरेशों पर कथन शिवाजी के व्याज से आ गए हैं। उस काल

की भारतीय राजसत्ता का अनमोल चित्रण है । ऐतिहासिक वर्णनों की सब कहीं भरमार है । शिवाजी का प्रताप सूर्यवत् सारे ग्रंथ में चमक रहा है । युद्ध-कथन की प्रवीणता, भारी बल, नायक का प्रभाव-प्रदर्शन, हिंदुत्व का गौरव, अलंकारों के साफ़ विश्लेषण तथा उदाहरण, तत्कालीन भारतीय चित्र, भाषा-सौंदर्य आदि शिवराज भूषण के गुण हैं । छत्रपति शिवाजी का शरीरांत सं० १७३७ में हुआ । अंतिम सात वर्षों की घटनाएँ शिवाबावनी में आ गई हैं । इसमें रस-परिपाक शिवराजभूषण से भी श्रेष्ठतर है । छत्रसाल-दशक का प्रति छंद बड़ा ही अनमोल और उमंग-पूर्ण है । वीर-काव्य के भूषण आचार्य हैं । तत्कालीन भारतीय नरेशों, विशेषतया शिवाजी और छत्रसाल द्वारा भूषण को धन-मान की भी बहुत अच्छी प्राप्ति हुई । स्फुट छंदों में भी भूषण का साहित्य कई अनुपम रत्न उपस्थित करता है । उसमें भी वही उद्दंडता वर्तमान है, जो आपके अन्य ग्रंथों को दीप्ति प्रदान करती है ।

भूषण की भाषा सशक्त, भाव-प्रकाशन में प्रभाव-युक्त और सुव्यवस्थित है । शब्द-चयन विषय के अनुरूप और आह्लाददायक है । वीर-काव्य के लेखक होकर प्रसाद और माधुर्य गुणों को भी आप बहुतायत से लाए हैं । अर्थ-व्यक्त-गुण बहुत अच्छा पाया जाता है । प्रशंसा-कथन में कविगण प्राय: अत्युक्ति से काम लेते हैं, किंतु भूषण में स्वाभाविकता का भी बल है । अपने समय के आप प्रतिनिधि कवि थे । भारत में उस काल स्वराज्य-स्थापन का प्रचुर प्रयत्न हो रहा था । आपने उस महत्कार्य में उमंग - वृद्धि द्वारा अनमोल सहायता पहुँचाई । रचना में शौर्य की मूर्ति खड़ी है । संयत कथन करके भी आप जातीयता-विवर्द्धक हुए । तत्कालीन प्रायः सभी प्रशंस्य नरेशों का उत्साह आपने अपने उमंग-पूर्ण साहित्य से बढ़ाया, तथा हिंदुओं के शत्रुओं की प्रचंड भर्त्सना की । धर्म एवं जातीयता का अनादर आपसे कभी देखा नहीं जाता था । लाक्षणिक मूर्तिमत्ता रचना में सदैव प्रस्तुत

रहती है। धारावाहिता, भावुकता, प्रकृति-रंजन, लालित्य, मौलि-कता, कला, मर्मस्पर्शी अनुभूति की व्यंजना, लोक-स्वीकृति के योग्य उमंग-पूर्ण कथन, रंगों के निरीक्षण एवं शुद्ध वर्णन, हाव-युक्त सजीव मूर्तियाँ, खेलवाड़, चेष्टाओं के सम्यक् चित्रण, लोकोक्तियों के विशद उपयोग, भाषा-सौष्ठव, विचार-स्वातंत्र्य, वर्णनों में विदग्धता आदि-आदि भूषण के ग्रंथों में प्राचुर्य से उपलब्ध हैं। छंदों से रस टपका पड़ता है। कला का महत्त्व होते हुए भी स्वाभाविकता का पूर्ण चमत्कार है। आचार्य और उद्दंड कवि, दोनों की महत्ता का मान रक्खा गया है। कला-पक्ष और हृदय-पक्ष, दोनो में चकाचौंध करनेवाला चमत्कार-कौशल दिखाई देता है। हास्य-विनोद भी भरा पड़ा है। शब्दों में फड़कनेवाली झंकार बहुधा सुन पड़ती है। कविता वीर-दर्प-पूर्ण सेन-संचालन का-सा स्वाद दिखलाती है। स्वाभाविक वर्णन के साथ ऊहा का भी चमत्कार भूषण ने रक्खा है। प्रबंध-कौशल और भावावेश के साथ तथ्य कथन भी मिला हुआ है। कल्पना में कोमलता वर्तमान है, और हिंदू-साम्राज्य का भावी रूप अभी से देख पड़ता है। तत्कालीन देशीय जागृति में आपका भी विशेष हाथ है।

सं० १७२४ के निकट शिवाजी के यहाँ पहली बार पधारे, और कुछ साल पीछे दूसरी बार। चिटणीस-बखर में आपका दो बार शिवाजी के यहाँ और एक बार औरंगज़ेब के दरबार में जाना लिखा है। महाराज छत्रसाल आपके दूसरे प्रधान आश्रयदाता थे। उन्होंने एक बार इनकी पालकी का डंडा अपने ही कंधे पर सम्मानार्थ रख लिया था।

सं० १७६४ में साहूजी का दिल्ली से छुटकारा हुआ। उस अवसर पर यह अवश्य ही उनके यहाँ गए होंगे। साहूजी-विषयक इनका एक उत्कृष्ट कवित्त प्रसिद्ध है। (स्फुट काव्य-छंद ७) छत्रसाल की प्रशंसा करते समय तक यह साहूजी को नहीं भूले। यथा—

"राजत अखंड तेज, छाजत सुजस बड़ो,
गाजत गयंद, दिग्गजन उर साल को ;
जाहि के प्रताप सों-मलीन आफताप होत,
ताप तजि दुज्जन करत बहु ख्याल को।
साज सजि गज, तुरी, पैदर कतार दीन्हे,
'भूषन' भनत ऐसो दीन-प्रतिपाल को ?
और राव-राजा एक मन में न ल्याऊँ अब
साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को।"
(छत्रसाल-दशक, छंद १०)

इससे स्पष्ट विदित होता है कि साहूजी ने भी भूषण की ख़ातिरदारी की होगी।

समझ पड़ता है, सं० १७६७ के निकट भूषण अपने भाई मतिराम की प्रेरणा से बूँदी-नरेश 'राव-राजा बुद्धसिंह' के दरबार में गए, और उनके वृद्ध प्रपितामह महाराज छत्रसाल हाड़ा के संबंध में दो कवितों के अतिरिक्त निम्न-लिखित कविता भी पढ़ा—

"रहत अछक, पै मिटै न धक-पीवन की,
निपट जु नाँगी डर काहू के डरै नहीं ;
भोजन बनावै, नित चोखे खान-खानन के,
सोनित पचावै तऊ उदर भरै नहीं।
उगिलत आसौ, तऊ सुकल समर-बीच,
राजै राव-बुद्ध-कर, बिमुख परै नहीं ;
तेग या तिहारी मतवारी है अछक तौ लौं
जौ लौं गजराजन की गजक करै नहीं।"

कदाचित् राव बुद्धसिंह ने इनकी वैसी ख़ातिर-बात न की, जैसी यह चाहते थे। अतः थोड़े ही दिनों में यह वहाँ से लौट पड़े होंगे। राह में महाराज छत्रसाल बुँदेले के यहाँ पहुँचने पर

इन्होंने बुँदेला-महाराज का जो छंद पढ़ा, उसमें 'राव-राजा बुद्धसिंह' की साफ़ शिकायत है। ऊपर उद्धृत छत्रसाल-दशक का छंद देखिए। सं० १७७२ के लगभग जब महाराज साहूजी ने उत्तर का धावा किया था, तब भूषणजी ने उनकी प्रशंसा में निम्न-लिखित छंद बनाया—

"बलख - बुखारे - मुलतान - लौं कहर पारे,
कपि-लौं पुकारैं, कोऊ धरत न सार है;
रूम रूँदि डारै, खुरासान खूँदि मारै, खाक
खादर-लौं झारै, ऐसी साहू की बहार है।
कक्कर लौं, बक्खर लौं, मक्कर लौं चलो जात,
टक्कर लेवैया कोऊ वार है न पार है,
'भूषन' सिरोज लौं परावने-परत, फेरि
दिल्ली पर परत परिंदन की छार है।"

(स्फुट काव्य, छंद ७)

इस समय भूषण की अवस्था प्रायः ६४ वर्ष की होगी, पर उनमें उद्दंडता वही भरी हुई थी। भूषण के अन्य आश्रयदाता भी कई थे, जैसा कि इनके स्फुट छंदों से प्रकट है। उनके नाम यहाँ दिए जाते हैं—

हृदयराम-सुत रुद्र सुरकी महोबा-निवासी (सं० १७२३), महाराजा अवधूतसिंह रीवाँ-नरेश (सं० १७५७-१८१२), कुमायूँ-नरेश ज्ञानचंद्र (सं० १७५७-६५), फ़तेहशाह गढ़वाल-नरेश (सं० १७४१-७३), सवाई जयसिंह जयपुर-नरेश (सं० १७६५-१८००), साहूजी भोंसला (सं० १७६५-१८०५), बाजीराव पेशवा (सं० १७७०-९७), चिंतामणि (चिमनाजी) (स० १७९०), महाराज छत्रसाल महेवा पन्ना (सं० १७२८-८९), राव-राजा बुद्धसिंह बूँदी-नरेश (सं० १७६४-१८०५) दाराशाह (सं० १७१६ तक) और भगवंतराय खीची असोथर-नरेश (सं० १७४०-९७)।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भूषण-कृत सबसे पीछे का छंद १७६७ में महाराजा भगवंतराय खीची की मृत्यु पर शोक है। अतएव इनका इस संवत् तक जीना निकलता है। इसी संवत् के आस-पास भूषण का शरीरांत हुआ होगा। यह छंद कुछ संदिग्ध भी है। भूषण के घरेलू चरित्रों का हाल प्रायः कुछ भी विदित नहीं है। यह पुत्रवान् थे, क्योंकि तिकवाँपुर में पता लगाने से हमें विदित हुआ है कि ज़िला फ़तेहपुर और कहीं मध्य-प्रदेश में इनके वंशज अब भी वर्तमान हैं। सीतल कवि भी इन्हीं के वंशज प्रसिद्ध हैं। भूषण पूर्णतया धन-संपन्न हो गए थे, और बड़े आदमियों की भाँति रहते थे। देश-भर में और राजों-महाराजों में इनका सदैव बड़ा मान रहा। इनकी कविता में सैकड़ों स्थानों एवं तत्कालीन ऐतिहासिक पुरुषों के नाम और वर्णन आए हैं, जिससे ज्ञात होता है कि इन्होंने देशाटन भी ख़ूब किया होगा। यह बड़े ही प्रभावशाली कवि हो गए हैं। इनका-सा सम्मान अथवा धन केशवदास के अतिरिक्त, कविता से, किसी हिंदी-कवि ने अद्यापि नहीं प्राप्त किया।

हमने भूषण-ग्रंथावली में शिवराजभूषण, शिवाबावनी, छत्रसाल-दशक और स्फुट काव्य नाम के चार ग्रंथ प्रकाशित करवाए हैं। प्रायः ये सभी ग्रंथ पहले प्रकाशित हो चुके थे, पर अशुद्ध और विकृत रूप में। हमने १७ ग्रंथों को इस संबंध में देखकर और अनेक प्रकाशित एवं अप्रकाशित प्रतियों को मिलाकर 'ग्रंथावली' को टिप्पणी-सहित संशोधित करके काशी की नागरी-प्रचारिणी ग्रंथमाला में छपवाया। शिवराजभूषण की पहलेवाली मुद्रित प्रतियों में प्रायः तीन सौ छंद हैं, पर हमारी प्रति में ३८२ छंद दिए गए हैं। शेष तीन ग्रंथों के कवित्त हमने जगह-जगह एक ग्रंथ से दूसरे में अदल-बदल कर दिए हैं, एवं उनका क्रम भी समुचित रूप से संशोधित कर दिया है। इससे, आशा है, वे ग्रंथ अब ठीक रूप में आ गए हैं।

उसका पंचम संस्करण और भी स्पष्ट है। भूषण-संबंधी हमारे सविस्तर विचार भूषण-ग्रंथावली तथा सुमनोंजलि में मिलेंगे। इस ग्रंथ में वे बहुत संक्षेप से दिए गए हैं। हमारे शुद्ध अंतिम कथन केवल अंतिम संस्करण में हैं। इनकी रचना के ऐतिहासिक प्रबंध भी हमने सविस्तार दिखलाए हैं।

भूषण की कविता से तत्कालीन इतिहास की प्रसिद्ध-प्रसिद्ध घटनाओं का पता भली भाँति लग जाता है। इतना ही नहीं, वरन् इनके अत्यंत सत्यप्रिय होने के कारण इनके ग्रंथों से इतिहास को भी अच्छी सहायता मिल सकती है। इन्होंने उस समय की प्रचलित काव्य-प्रणाली छोड़कर वीर-रस की ओर ध्यान दिया, और एक नवीन प्रकार की कविता का प्रचार किया। इससे हमारा यह तात्पर्य नहीं कि इनके पहले वीर-काव्य था ही नहीं, परंतु इसमें संदेह नहीं कि उक्त रस पर इतना अनुराग अन्य कवियों ने नहीं प्रकट किया था, और न उसमें इतनी सफलता ही किसी ने प्राप्त की थी। 'हिंदी-नवरत्न' में वीर-रस के पूर्ण प्रतिपादक एकमात्र यही महाकवि हैं। अवश्य ही वीर-रस में हम रौद्र और भयानक-रसों को सम्मिलित मानते हैं। यह कवि एक और बात में बड़े भाग्यशाली थे। इनके शेष दोनो भाई भी अच्छे कवि थे। मतिराम तो नवरत्नों में ही सम्मिलित हैं। चिंतामणि भी बड़े नामी कवि हो गए हैं। हिंदी में ऐसा दूसरा उदाहरण तो है ही नहीं, शायद अन्य भाषाओं में भी न मिले! कोई दो भाई किसी अन्य भाषा के सर्वोच्च कवियों की श्रेणी में न पहुँचे होंगे। उस पर तुर्रा यह कि शेष भी सत्कवि! यह भ्रातृ-वर्ग धन्य है!

भूषण के ग्रंथों पर विचार

(१) शिवराजभूषण। यह ग्रंथ इस कविरत्न के प्राप्य ग्रंथों में सबसे बड़ा है, वरन् इसी को ग्रंथ कहा जा सकता है, क्योंकि शेष

तीन ग्रंथ अधिकांश में बहुत छोटे और संग्रह-मात्र हैं। इसमें भूषण ने अलंकारों का पूर्ण क्रम रखते हुए भी सभी पद्य शिवाजी की ही प्रशंसा में कहे। हिंदी में किसी एक ही व्यक्ति की प्रशंसा में कोई दूसरा नामी अलंकार-ग्रंथ हमने नहीं देखा। शिवराजभूषण को भूषण ने शिवाजी के यहाँ आते ही, सं० १७२४ से, बनाना आरंभ कर दिया होगा। प्रस्तुत क्रम से ही यह उसे १७३० तक बना तेरहे, परंतु कुछ-कुछ अलंकारों के उदाहरण पीछे से जोड़े गए, एवं अन्य हेर-फेर समय-समय पर होते रहे होंगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

(२) शिवाबावनी। यह भूषण के शिवाजी-विषयक ५२ छंदों का एक संग्रह है। ज़ोरदारी और गौरव में यह ग्रंथ बहुत ही उच्च-कोटि का है। इसके छंद शिवराजभूषण के छंदों से भी अधिक प्रभावोत्पादक हैं। इसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। निस्संदेह इसके बहुतेरे कवित्त शिवराजभूषण समाप्त होने के पीछे बने।

उदाहरण—

"गढ़न - गजाय गढ़धरन - सजाय करि
छाँड़ि दीन्हें धरम - दुवार दै भिखारी-से ;
साहि के सपूत - पूत बीर सिवराजसिंह ,
केते गढ़धारी किए बन - बन - चारी - से !
'भूषन' बखानें, केते दीन्हें बंदीखाने, सेख,
सैयद, हजारी, गहे रैयत - बजारी - से ;
महता - से मुगल, महाजन - से महाराज ,
डाँड़ि लीन्हें पकरि पठान पटवारी से।"

"दुग्ग पर दुग्ग जीते सरजा-सिवाजी गाजी,
डग्ग नाचे डग्ग पर रुंड - मुंड फरके ;
'भूषन' भनत बाजे जीति के नगारे भारे
सारे करनाटी - भूप सिंहल को सरके।

मारे सुनि सुभट पनारे-वारे उद्भट
तारे लागे फिरन सितारे-गढ़धर के;
बीजापुर बीरन के, गोलकुंडा धीरन के,
दिल्ली उर मीरन के दाड़िम-से दरके।"

(३) छत्रसाल-दशक। इस छोटे-से ग्रंथ में दो दोहे और आठ कवित्त महाराज छत्रसाल बुंदेला के विषय में हैं, और वे ही दोनो दोहे और दो अन्य कवित्त छत्रसाल हाड़ा बूँदी-नरेश के विषय में। इतना छोटा होने पर भी यह हिंदी-भाषा का एक नामी ग्रंथ है, और इसे निकाल डालने से हिंदी-साहित्य में एक प्रकार की कमी आ जायगी! बस, इसी से पाठक इसकी बहुमूल्यता का अनुमान कर सकते हैं। यह ग्रंथ भाषा-साहित्य में एकदम अद्वितीय है, क्योंकि इसका एक भी पद्य किसी प्रकार से हीन नहीं कहा जा सकता। इस ग्रंथ के पद्य-स्फुट रूप में, समय-समय पर, सं० १७३१ से लेकर १७६७ तक बने, और बाद को ग्रंथ-रूप में परिणत कर दिए गए, ऐसा समझ पड़ता है। भूषण सच्चे ब्राह्मण थे, और यह उन्होंने अपनी कविता से स्पष्ट सिद्ध कर दिया है। उन्हें मान से जितनी प्रसन्नता होती थी, उतनी धन-प्राप्ति से नहीं। इसका सर्वोत्कृष्ट प्रमाण यही है कि जितना धन उन्हें शिवाजी ने दिया, उसका दशमांश भी छत्रसाल बुँदेला ने नहीं दिया होगा, पर बुँदेला महाराज ने उनका मान बहुत विशेष किया। वैसे ही भूषण ने जैसे-जैसे भड़कीले रोमांचकारी छंद छत्रसाल के विषय में कहे, वैसे कवित्त शिवाजी के विषय में शायद ही दो-चार मिल सकें!

उदाहरण--

"निकसत म्यान ते मयूखैं प्रलै-भानु की-सी,
फारैं तम-तोम से गयंदन के जाल को;

लागति लपटि कंठ-बैरिन-के नागिनि-सी,
रुद्रहि रिझावै दै-दै मुंडन की माल को।
लाल - छितिपाल छत्रसाल महाबाहु - बली,
कहाँ लौं बखान करौं तेरी करवाल को ?"
प्रति-भट कटक कटीले केते काटि-काटि,
कालिका-सी किलकि कलेऊ देत काल को।"
"रैया-राय चंपति को चढ़ो छत्रसालसिंह,
'भूषन' भनत समसेरैं जोम जमकैं,
भादौं की घटा-सी उठीं गरदैं गगन घेरैं,
सेलैं समसेरैं फेरैं दामिनी-सी दमकैं;
खान उमरावन के, आन राजा-रावन के,
सुनि-सुनि उर लागै घन की-सी घमकैं;
बैहर बगारन की, अरि के अगारन की,
नाँघतीं पगारन नगारन की धमकैं।"

(४) स्फुट काव्य में भूषण के पंद्रह-बीस स्फुट छंद, जो हमें मिल सके, लिखे गए हैं। इसमें भी बड़े ही प्रभावशाली छंद हैं।

भूषण की कविता का परिचय

भूषण महाराज ने उपयोगी वर्णनों के साथ भारत-मुखोज्ज्वलकारी शिवाजी, बाजीराव पेशवा और छत्रसाल-सदृश महाराजों का यशो-वर्णन करके हिंदी और देश का भारी उपकार किया है। यदि इनमें कोई वैसे बड़े काव्य के गुण न होते, तो भी इनका मान इसी कारण से अवश्य होता ; पर यहाँ तो "सोने में सुगंध" की कहावत पूर्णतया चरितार्थ होती है। भूषण कविता के विचार से भी हिंदी के ९ सर्वोच्च कवियों तक में उच्च आसन के अधिकारी हैं। इनकी कविता से हिंदी-साहित्य के एक मुख्य अंग की पूर्ति हुई है। इनका नाम हिंदी के साथ अमर हो गया है।

इनकी भाषा विशेषतः व्रज-भाषा है, पर कहीं-कहीं इन्होंने प्राकृत, बुँदेलखंडी एवं खड़ी बोली के शब्दों का भी प्रयोग किया है। यत्र-तत्र फ़ारसी और अरबी-भाषाओं के भी असाधारण शब्द तक लिखे हैं, पर दो-चार स्थानों पर उनका अशुद्ध प्रयोग भी हो गया है। इन्होंने बहुत कम असाधारण एवं विकृत शब्द लिखे हैं। इन कविवर का शब्द-समूह अधिकांश नामी कवियों से भी बढ़ा-चढ़ा है। भूषण ने कुल मिलाकर केवल दस प्रकार के छंदों का व्यवहार किया है। इनकी भाषा और शब्द-योजना की रीति बहुत प्रशंसनीय है। यह महाशय अन्य कवियों की भाँति ऐसे पद्य प्रायः नहीं बनाते थे, जो केवल नायक का नाम बदल देने से किसी भी व्यक्ति की प्रशंसा के हो सकते हों। इनके कवित्तों में सैकड़ों विशेष घटनाओं का समावेश है। ऐतिहासिक घटनाओं के साथ इनकी सत्यप्रियता बहुत प्रशंसनीय है। इनमें स्वतंत्रता की मात्रा अधिक थी। शिवाजी, छत्रसाल, कुमायूँ-नरेश एवं राव बुद्ध तक से इन्होंने पूर्ण स्वतंत्रता का व्यवहार रक्खा, और उनकी त्रुटियों तक को प्रकट कर दिया। सत्य घटनाओं के साथ ख़याली और भड़कीले वर्णन इन्होंने बहुत कम किए हैं। इतिहास में शिवाजी भवानी के भक्त लिखे हैं, पर भूषण उन्हें शिवभक्त भी बतलाते हैं। कुछ बखरों में वह शिव-भक्त भी कहे गए हैं। भूषण की कविता में ओज और उद्दंडता प्रशंनीय हैं। उसमें उत्कृष्ट पद्यों की संख्या बहुत है। हमने इनके प्रकृष्ट कवित्तों की गणना की, और उन्हें केशवदास एवं मतिराम के पद्यों से मिलाया, तो इनकी कविता में वैसे पद्यों की संख्या या उनका औसत अधिक रहा। इसी से हमने भूषण का नंबर बिहारी के बाद और इन दोनो के ऊपर रक्खा है।

भूषण में जातीयता का एक बहुत भारी गुण है। इन्हें हिंदू-जाति का जितना ध्यान और अभिमान था, उतना पहले भारतेंदु के प्रति-

रिक्त हिंदी के किसी भी दूसरे महाकवि में नहीं पाया। वर्तमान समय की दृष्टि से मुसलमानों के प्रति इनकी कटूक्तियाँ अनुचित-सी प्रतीत होती हैं, पर उस समय दोनो जातियों में औरंगज़ेब के नीच व्यवहार के कारण भयंकर शत्रुता थी। सो जातीयता-वश भूषण ने मुसलमानों के विषय में जो बहुतेरे कठोर वाक्य लिखे, वे एक प्रकार से क्षम्य हो सकते हैं। कवियों की बात जाने दीजिए, उस समय के मुसलमान इतिहासकारों तक ने हिंदुओं के विषय में भूषण की कटूक्तियों से कहीं बढ़कर अनुचित बातें लिखी हैं। भूषण को हिंदुओं का इतना ध्यान था कि चाहे जिसकी प्रशंसा हो, प्रायः सबमें वह हिंदुओं की बात रख देते थे। वास्तव में इनकी कविता के नायक एक प्रकार से न शिवाजी हैं, न छत्रसाल, न राव बुद्ध हैं, न अवधूतसिंह, न शंभाजी हैं, न साहूजी, इनके सच्चे नायक हैं हिंदू। अन्य नायक 'हिंदुआन को अधार', 'ढाल हिंदुआने की' इत्यादि हैं। मतलब यह कि भूषण की कविता हिंदू-मय हो रही है।

इनकी कविता में कोई कहने योग्य दूषण नहीं है। सब मिलाकर निष्कर्ष यह निकलता है कि भूषण का काव्य वास्तव में हिंदी-साहित्य का भूषण है, और यह सचमुच महाकवि हैं।

चढ़त तुरंग चतुरंग साजि सिवराज,
चढ़त प्रताप दिन-दिन अति जंग मैं;
'भूषन' चढ़त मरहट्टन के चित्त चाव,
खग्ग खुलि चढ़ति है अरिन के अंग मैं।
भौंसिला के हाथ गढ़-कोट हैं चढ़त अरि-
जोट ह्वै चढ़त एक मेरु-गिरि संग मैं;
तुरकान-गन व्योम-यान हैं चढ़त बिनु
मान ह्वै चढ़त बदरंग नवरंग मैं।

अटल रहे हैं दिगअंतन के भूप, धरि
रैयत को रूप निज देस पेस करिकै ;
राना रह्यो अटल बहाना करि चाकरी को,
बाना तजि 'भूषन' भनत गुन भरिकै।
हाड़ा, रायठौर, कछवाहे और गौर रहे
अटल चकत्ता को चमाऊ धरि डरिकै ;
अटल सिवाजी रह्यो दिल्ली को निदरि धीर—
धरि, ऐंड़ धरि, तेग धरि, गढ़ धरिकै।
यों सिर पै छहरावत छार हैं, जाते उठैं असमान बबूरे ;
'भूषन' भूधरऊ धरकैं जिनके धुनि-धक्कन यों बल-रूरे।
ते सरजा सिवराज दिए कबिराजन को गजराज गरूरे ;
सुंडन सों पहिले जिन सोखिकै फेरि महामद सों नद पूरे।

इन दिनों हम लोगों ने इनकी रचना पर फिर से विशेष ध्यान दिया, सो इन्हें बहुत करके बिहारी का समकक्ष समझा।

त्रिपाठी-बंधु

—— :o: ——

महाकवि मतिराम

आप भूषण के छोटे भाई और हिंदी के परम प्रसिद्ध कवि हैं। आपका समय सं० १६६६ से १७७३ पर्यंत समझ पड़ता। इनके मुख्य ग्रंथ ललित ललाम, रसराज और मतिराम-सतसई हैं। बूँदी-दरबार ने गज-ग्रामादि से आपका मान किया। ललित ललाम अलंकार-ग्रंथ है, जिसमें बूँदी-नरेश महाराज भाऊसिंह का प्रचुर यशोगान है। उनके हाथियों का भी विशेष कथन है। ललित ललाम हिंदी-साहित्य का एक परमोत्कृष्ट ग्रंथ है। मतिराम-सतसई में बिहारी-सतसई के समान सात सै दोहे हैं। उत्तमता में भी बिहारी-सतसई से यह बहुत पीछे नहीं है। उसमें प्राय: २५० परमोत्कृष्ट दोहे हैं, और इसमें १८० के लगभग। रसराज का अध्ययन लोग रीति-ग्रंथों में सबसे अधिक करते हैं। इसमें भाव का विषय है।

महाकवि मतिराम की भाषा बहुत ही सुव्यवस्थित और परिपक्व है। इनकी इच्छा के अनुसार वह हर ओर लच जाती है, और हर प्रकार के भाव परम सुगमता-पूर्वक व्यक्त करती है। इनका शब्द-चयन हिंदी का रूप खड़ा किए हुए है। वह न तो संस्कृतपन की ओर जाता, न प्रांतिकता के फेर में पड़ता है। वाक्य-विन्यास माधुर्य और प्रसाद का जामा पहने हुए है। पदावली अलंकृत, प्रांजल और भाव-व्यंजन में पूर्णतया समर्थ है। कोमलता, कांति, अर्थ-व्यक्ति आदि गुण मानो आप ही के लिये बने हैं। कथन में मार्मिकता, भाव-व्यंजना में स्वाभाविकता

और वर्णन में पूर्णता है। शाखा-चंक्रमण निकट नहीं आने पाता है। जो भाव उठाते हैं, उसी को छंद के प्रत्येक शब्द से पुष्ट करते चले जाते हैं। कर्कशता निकट नहीं फटकने पाती। कथनों में चारुता और कुशलता है। सच्ची अनुभूति की कमी नहीं है। छंद धारा-प्रवाह से चलते हैं। उनके पढ़ने में जिह्वा के लिये अटकाव नहीं है। प्राकृतिक रंजन के साथ भावुकता का मिश्रण है। शब्दों में चित्र खींच देते हैं। कोमल-पद-माधुरी सब कहीं वर्तमान है। अनुभूति की मर्मस्पर्शी व्यंजना, प्रभावशाली शब्द, हावों के मनोहर विधान, चेष्टाओं के सजीव चित्रण, संचारियों की चमत्कृत कल्पना, पदावली में स्निग्धता, अनुप्रासों की झंकार, रसार्द्रता आदि मतिराम की रचना में पूर्णता से प्राप्त हैं। आप जातीय कवि भी थे। इन्होंने उपमा-रूपकादि ख़ूब कहे। इनकी रचना में उत्कृष्ट छंद बहुत मिलते हैं। अर्थ-गांभीर्य आपका मुख्य गुण है।

"दूसरे कि बात सुनि परति न, ऐसी जहाँ
    कोकिल, कपोतन की धुनि सरसाति है;
छाइ रहे जहाँ द्रुम बेलिन सों मिलि 'मति-
    राम' अलि-कुलनि अँधेरी अधिकाति है।
नखत-से फूलि रहे फूलन के पुंज, घन
    कुंजन में होति जहाँ दिनहू मैं राति है;
ता बन की बाट, कोऊ संग ना सहेली, कहि
    कैसे तू अकेली दधि बेचन को जाति है।"

यहाँ कवि को सहेट-स्थान के योग्य सूनापन आदि दिखाना अभीष्ट था, सो यह उसने प्रतिभाव से दिखलाया। इतनी कोकिला और कपोत बोलते हैं कि दूसरे की बात नहीं सुन पड़ती। इससे प्रकट हुआ है कि वहाँ कोकिला और कपोत निर्विघ्न विहार करते हैं, अर्थात् उन्हें सतानेवाले कोई मनुष्य नहीं हैं। पेड़ बेलियों से मिले हैं, जिससे अँधेरा रहता और भौंरों से मिलकर वह अंधकार बढ़ जाता है। कुंज बहुत

घने हैं, और उनके सब ओर फूल नक्षत-जैसे ऐसे छाए हैं कि दिन में भी रात-सी बनी रहती है। फिर वह स्थान जंगल के बीच में है, नायिका के साथ कोई सखी भी नहीं है; कोई दूसरी दधि बेचनेवाली भी नहीं; अतः उसे अकेली ही जाना पड़ता है। ऐसे भाव-पूर्ण पद्य बहुत कवियों ने नहीं रचे। मतिराम की कविता में ऐसे ही छंद भरे पड़े हैं।

"तरुन-अरुन ऐड़ीन की किरनि-समूह उदोत,
बेनी-मंडन मुकुत के पुंज गुंज-दुति होत।"
"पिय-बियोग तिय-दृग-जलधि जल-तरंग अधिकाय :
बरुनि-मूल-बेला परसि बहुरयो जात बिलाय।"
"बिन देखे दुख के चलैं, देखे सुख के जाहिं;
कहो लाल, इन दृगन के अँसुवा क्यों ठहराहिं ?"
"पीतम को मनभावती मिलति बाँह दै कंठ;
बाहीं छुटै न कंठ ते, नाहीं छुटै न कंठ।"

इन दोहों में इन कविवर ने कितने ही उत्कृष्ट भाव दिखलाए हैं। बेनी और एँड़ियों के रंग के प्रभाव से मोती घुँघची-से हो गए। वियोग में आँसुओं का उठना एवं लज्जा के कारण उनका फिर लुप्त हो जाना मुग्धा के रूप को अच्छा प्रकट करता है। लक्षिता का उदाहरण भी देखने ही योग्य है—

"आई हो पाइँ दिवाय महाउर कुंजन ते करिकै सुख सेनी;
साँवरे आजु सँवारो है अंजन, नैनन को लखि लाजत एनी।
बात के बूझत ही 'मतिराम' कहा करती भट्ट भौंह तनेनी;
मूँदी न राखति प्रीति अली, यह गूँदी गोपाल के हाथ कि बेनी।"

इस छंद में सखा ने महावर, अंजन और बेनी देखकर ताड़ लिया कि ये सब नायक के हाथ की रचनाएँ हैं। चतुर कवि ने इन बातों का कारण समझने के लिये पाठक से भी कुछ बुद्धि-बल

दिखाने की आशा की है। नायक के लक्षण ही में उसका गुणी होना आता है, अत: उसमें कोई मूर्खता नहीं दिखलाई जा सकती। फिर सखी ने इन तीनो पदार्थों को नायक के कार्य कैसे जाने? महावर फैला हुआ है, तो क्या वह अच्छा नहीं लगा सकता था? अवश्य लगा सकता था, पर बात यह है कि उसके स्पर्श से नायिका के स्वेद-संचार हुआ, और महावर फैल गया। अंजन कैसा है? आँख को देखकर मृगी लजाती है। मृगी की आँख के समीप कालिमा फैली रहती है। अतः ज्ञात हुआ कि अंजन नायिका के भी फैला हुआ है। वह अच्छा अंजन लगा सकता था, परंतु प्रेमाधिक्य के कारण उसे उँगली के आँख में गड़ जाने का भय हुआ, जिससे अंजन फैल गया। बेनी ढीली बँधी है। सखी ज़ोर से कसकर बाँध देती, परंतु नायक प्रेमाधिक्य के कारण नायिका को इतनी भी पीड़ा नहीं देना चाहता था, जितनी बेनी के समुचित प्रकार से कसकर बाँधने में होती। इस छंद में कोमलता, प्रेमाधिक्य और प्रकृति-निरीक्षण के उदाहरण कवि ने दिखलाए हैं।

कुछ बातों पर ध्यान देने से जान पड़ता है कि मतिराम भाषा के बहुत बड़े कवि थे। सिवा चार-छ परमोत्कृष्ट कवियों के और किसी हिंदी-कवि की रचना आपकी कविता की समता नहीं कर सकती। यदि कोई कवि देवजी के पार्श्ववर्ती होने का अधिकार रखता है, तो वह यही हैं। मतिराम के सवैयों तथा घनाक्षरियों से देव का और दोहों से बिहारीलाल का स्मरण हो आता है। शृंगारी कवियों में इनकी वीर-कविता बहुत अच्छी है। ललित ललाम में आपने भूषण का भाई होना सार्थक कर दिया है। उदाहरण—

रसराज

कुंदन को रँग फीको लगै, झलकै अति अंगन चारु गोराई
आँखिन मैं अलसानि, चितौनि मैं मंजु बिलासन की सरसाई

को बिन मोल बिकात नहीं 'मतिराम' लखे मुसुकानि-मिठाई ;
ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निसरै-सी निकाई ॥ १ ॥

जाल रंध्र-मग ह्वै कढ़त तिय-तन-दीपति-पुंज ;
झिंझिया को-सो घट भयो दिन ही मैं बन-कुंज ॥ २ ॥

संचि बिरंचि निकाई मनोहर, लाज कि मूरतिवंत बनाई ;
ता पर तो पति भाग बड़े, 'मतिराम' लसै पति - प्रीति सुहाई ।
तेरे सुसील सुभाव भटू, कुल-नारिन को कुल - कानि सिखाई ;
तोहि जनौ पति-देवत के गुन गौरि सबै गनगौरि पढ़ाई ॥ ३ ॥

लाल तिहारे संग मैं खेलैं खेल बलाइ ;
मूँदत मेरे नैन हौ करन कपूर लगाइ ॥ ४ ॥

ज्यों-ज्यों परसै लाल तन, त्यों-त्यौं राखै गोइ ;
नवल-बधू डर-लाज ते इंद्र - बधू - सी होइ ॥ ५ ॥

केलि कै राति अघाने नहीं, दिनहू मैं लला पुनि घात लगाई ;
प्यास लगी, कोउ पानी दै जाउ, यों भीतर बैठिकै बात सुनाई ।
जेठी पठाई गई दुलही, हँसि हेरि हरे 'मतिराम' बुलाई ;
कान्ह के बोल मैं कान न दीन्हों, सुगेह की देहरी लौं धरि आई ॥ ६ ॥

चित्त मैं बिलोकत ही लाल को बदन बाल,
जीते जेहि कोटि चंद सरद-पुनीन के ;
मुसक्यात अमल कपोलनि के रुचि बृंद,
चमकैं तरयोननि के रुचिर चुनीन के ।
पीतम निहारयो बाँह गहत अचानक ही,
जामैं 'मतिराम' मन सकल मुनीन के ;
गाढ़े गही लाज, मैन, कंठ ह्वै फिरत बैन,
मूल छ्वै फिरत नैन-बारि बरुनीन के ॥ ७ ॥

केलि-भवन की देहरी खड़ी बाल छबि नौल ;
काम कलित हिय को लहै, लाज-ललित दृग-कौल ॥ ८ ॥

कोऊ नहीं बरजै 'मतिराम', रहौ तित ही जित ही मन भायो ;
काहे को सौहैं हजार करौ, तुम तौ कबहूँ अपराध न ठायो।
सोवन दीजै, न दीजै हमैं दुख, यों हीं कहा रस-बाद बढ़ायो ;
मान रह्योई नहीं मनमोहन, मानिनी होय सु मानै मनायो ॥ ९ ॥

बलय पीठि, तरिवन भुजन, उर कुच-कुंकुम-छाप !
तितै जाहु मन भावते, जितै बिकाने आप ॥ १० ॥
आवत उठि आदर कियो बोली बोल रसाल ;
बाँह गहत नँदलाल के भए बाल-दृग लाल ॥ ११ ॥

क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै मोहन को तन - पानिप पीजै ;
नेकु निहारे कलंक लगै, इहि गाँव बसे कहु कैसेक जीजै ?
होत रहै मन यों 'मतिराम', कहूँ बन जाइ बड़ो तप कीजै ;
ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु ह्वै मुरली अधरा - रस लीजै ॥ १२ ॥

महाकवि केशवदास

——:o:——

आप सनाढ्य ब्राह्मण ओरछा-नरेश के राजगुरु थे। आपका जीवन-काल अनुमान से सं० १६१२ से १६७४ तक समझा जाता है। महाराजा बीरबल को प्रसन्न करके आपने ओरछे पर एक करोड़ का शाही जुर्माना माफ़ करा दिया। तभी से आपका वहाँ मान बढ़ा होगा। आपने स्वयं कहा है कि "भूतल को इंद्र इंद्रजीत जीवै जुग-जुग, जाके राज केशौदास राज-सो करत है।" इनके ग्रंथों में रामचंद्रिका, कवि-प्रिया, रसिक-प्रिया, विज्ञान-गीता और वीरसिंहदेव-चरित्र मुख्य हैं। अंतिम ग्रंथ की साहित्यिक प्रौढ़ता ऊँचे दर्जे की नहीं है। विज्ञान-गीता में कामकाजू धर्म कहा गया है। ग्रंथ कुछ-कुछ शिथिल है। रसिक-प्रिया में रसों का वर्णन है। यह ग्रंथ उच्च शैली का है। आकार में रसराज के प्रायः बराबर होगा। कवि-प्रिया एक उत्कृष्ट रीति-ग्रंथ है। हिंदी में पहला यही भारी रीति-ग्रंथ है, जिससे केशवदास को आचार्य की पदवी मिली है। इसमें गुण दोष, कविता की जाँच, अलंकार, बारामासा, नख-शिख और चित्र-काव्य के वर्णन हैं। रीति-कथन में आपने दंडी तथा रुय्यक का अनुसरण किया है, न कि मम्मट और विश्वनाथ का, जैसा कि इनके पीछेवाले बहुतेरे आचार्यों ने किया। विश्वनाथ पूर्वी बंगाल के थे। आपने १५वीं शताब्दी में साहित्य-दर्पण रचा। कवि-प्रिया विशेषतया अलंकार-ग्रंथ है। रामचंद्रिका में रावण-वध-पर्यंत इधर

तथा लवकुशी में मधुर साहित्य उत्कृष्ट है, किंतु शेष ग्रंथ तादृश रोचक नहीं है। इसमें संस्कृत के बहुत-से सुश्लोकों के अनुवाद हैं। बहुत स्थानों पर मौलिकता की कमी है। फिर भी ग्रंथ कुल मिलाकर मनोहर है। रसिक-प्रिया रस-ग्रंथ है, विशेषतया शृंगार का। विज्ञान-गीता में चलतू धर्म की विशेषता है।

केशवदास की भाषा संस्कृत और कुछ बुंदेलखंडी शब्द धारण किए हुए व्रजभाषा है। छंद आप शीघ्रता से बदलते जाते हैं; जिससे कथा में अरोचकता नहीं आने पाती। रचना में श्रेष्ठ छंदों का बाहुल्य है। अयोध्या, सूर्योदय, धनुष-यज्ञ, स्वयंवर आदि बहुत-से विषयों के अच्छे वर्णन आपने किए हैं। आप सर्वव्यापिनी दृष्टि के कवि थे। सांस्कृत शब्द एवं भाव-मिश्रित होने से आपकी रचना कुछ कठिन होती थी; उसमें कहीं-कहीं श्रुतिकटु शब्द भी आ जाते थे। आप श्रुतिकटु का विचार शब्दों में न करके केवल अर्थ में करते थे। विविध छंदों में कथा-प्रणाली की रीति आप ही ने, रामचंद्रिका द्वारा, चलाई। आपकी रचना में अलंकार तो बहुत आते हैं, किंतु पूर्ण रसों के बहुतायत से उदाहरण नहीं हैं। आपकी रचना का मान प्राचीन काल से होता आया है। "सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केसवदास" का कथन इनके विषय में है। आप उच्च और गंभीर कवि थे। आपके ग्रंथ सं० १६४८ से १६६७ तक बने।

रामचंद्रिका भाषा-काव्य की शृंगार है। हिंदी-साहित्य में तुलसी-कृत रामायण के सिवा ऐसा रोचक ग्रंथ एक भी नहीं है। इस ग्रंथ में, गणना में, कवि-प्रिया से अधिक प्रकृष्ट छंद नहीं हैं; परंतु इसमें एक पूज्य कथा भी वर्णित है, इसी कारण इसकी रोचकता बहुत बढ़ गई है। इसे एक बार उठा लेने से रामचंद्र के लंका जीतकर अयोध्या लौटने तक का हाल पढ़ लिए बिना पुस्तक रख देने को

चित्त ही नहीं चाहता। इस ग्रंथ में केशवदास छंद इतनी शीघ्रता से बदलते गए हैं कि वे कहीं अरुचिकर नहीं होते।

हिंदी-साहित्य में कथा - प्रसंग-वर्णन करने की, छंदानुसार, दो प्रणालियाँ हैं, एक तो गोसाईंजी की भाँति दोहे-चौपाइयों की, और दूसरी केशवदास की भाँति विविध छंदोंवाली। प्रथम प्रकार में काव्य बहुत उत्कृष्ट न होने पर वर्णन रोचक नहीं रहता, परंतु द्वितीय प्रथा में, साहित्य की विशेष उत्तमता न होने पर भी, कथा उतनी शीघ्र अरुचिकर नहीं होती। यह द्वितीय प्रणाली केशवदास ने इसी ग्रंथ द्वारा चलाई।

कथा-वर्णन की भी दो प्रथाएँ हैं—एक तो संस्कृत के कवियों की भाँति, दूसरी गोस्वामी तुलसीदास की भाँति। इन दोनो का अंतर हम एक उदाहरण द्वारा दिखलाएँगे। संस्कृत के कवि यदि भुजा का कथन करेंगे, तो वे उसकी लंबाई का, बजुल्ले का, कलाई की गठन का और अँगूठियों का वर्णन करके उसे छोड़ देंगे; किंतु यदि गोसाईंजी वही वर्णन करेंगे, तो कदाचित् इन बातों का कथन न हो, परंतु बाहु-मूल से लगाकर उँगलियों के नखों तक का, बिना उपमा-रूपक आदि के, सीधा-सादा रूप, एक-एक रोम-पर्यंत, दिखा देंगे। संस्कृत के कवि मुख्य कथा को छोड़कर रूपकों, उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं आदि पर विशेष ध्यान देंगे, सूर्योदय, समुद्र, गंगा की तरंगों आदि पर अधिक रुझान रक्खेंगे, नायकों के काव्य-संबंधी चुटीले भाव सुझानेवाले छोटे-छोटे कर्मों तथा भावों को कहकर उनके सहारे काव्य की छटा दिखायेंगे, और सूक्ष्म रीति पर कथा का भी सूत्र लिए रहेंगे। इधर गोस्वामीजी इन बातों पर विशेष ध्यान न देंगे; किंतु मुख्य कथा को सांगोपांग, बड़े विस्तार से कहेंगे। यदि नैषध को पढ़िए, तो कहीं-कहीं यह भूल जाता है कि हम कोई कथा पढ़ रहे हैं। जान पड़ता है, यह कोरा काव्य है, परंतु तुलसीदास की

कृति में यह कहीं नहीं भूलता कि हम कथा पढ़ रहे हैं। जिसको हम तुलसीदासवाली अथवा भाषा की प्रथा कह रहे हैं, वह वास्तव में महर्षि वाल्मीकि और वेदव्यास की प्रणाली है। संक्षेपतः हम इन दोनो को काव्य-संबंधी और कथा-संबंधी प्रथा कहेंगे। महाकवि केशवदास ने इसी काव्य-रीति में रामचंद्रिका कही। ये दोनो हिंदी-भाषा में भी स्थिर हैं, और अपने-अपने ढंग पर दोनो अच्छी हैं।

केशवदास सदैव महाराजों में रहे, अतः इन्होंने बड़े आदमियों की बातचीत और उनके साज-सामान का बहुत ही ठीक, यथायोग्य वर्णन किया है। उदाहरणार्थ निम्न-लिखित वार्तालाप देखिए—

विश्वामित्र और दशरथ का, विश्वामित्र और जनक का, सीता और रावण का (इसमें स्त्रियों के ऊँचे पद का पूरा विचार रहा है) सीता और हनुमान् का, इत्यादि। केशवदास ने केवल रावणांगद-संवाद ऐसा कराया है, जैसा राजों की सभाओं में होना असंभव है। इस विषय में वाल्मीकिजी की कविता दर्शनीय है। केशवदास ऋषियों और राजों की बातचीत में ऋषियों के मान पर सदैव ध्यान रखते थे। इस ग्रंथ में कथा का डोर कुछ पतला है और साहित्यिक छटा का विशेष।

उदाहरण—

जिन हाथन हठि हरषि हनत हरिनी नृपनंदनि ;
तिन न करत संहार कहा मदमत्त गयंदनि ?
जिन बेधत सुख लच्छ-लच्छ नृप कुँअर कुँअरमनि ;
तिन बानन बाराह, बाघ मारत नहिं सिंहनि ?
नृप-नाथ नाथ दसरथ, सुनिय, अकथ कथा यह मानिए ;
मृगराज राज-कुल-कलस अब बालक-वृद्ध न जानिए।

× × ×

तरु तालीस, तमाल, ताल, हिंताल, मनोहर ;
मंजुल बंजुल, तिलक, लकुच-कुल, नारिकेर बर ।
एला, ललित लवंग, संग पुंगीफल सोहैं ;
सारो, सुक-कुल कलित, चित्त कोकिल, अलि मोहैं ।
सुभ राजहंस, कलहंस - कुल, नाचत मत्त मयूरगन ;
अति प्रफुलित, फलित सदा रहै 'केसवदास' विचित्र बन ।

× × ×

सोभित मंचन की अवली गजदंतमयी छबि उज्ज्वल छाई ;
ईस मनौ बसुधा मैं सुधारि सुधाधर-मंडल मंडि जुन्हाई ।
तामहँ 'केसवदास' बिराजत राजकुमार सबै सुखदाई ;
देवन सौं जनु देव-सभा मिलि सीय स्वयंबर देखन आई ।

× × ×

लंका-दहन

उठी अग्नि-ज्वाला अटा स्वेत हैं यों ;
सरत्काल के मेघ संध्यासमै ज्यों ।
लगी ज्वाल - धूमावली नील राजैं ;
मनो स्वर्न की किंकिनी नाग साजैं ।
लसैं पीत छत्री मढ़ी ज्वाल मानौ ;
ढके ओढ़नी लंक बच्छाज जानौ ।
जरैं जूह-नारी चढ़ो चित्रसारी ;
मनौ चेटका में मती सत्वधारी ।
कहूँ रैनिचारी गहे ज्योति गाढ़े ;
मनो ईस-रोषाग्नि में काम डाढ़े ।
कहूँ कामिनी ज्वाल-मालानि भोरैं ;
तजैं लाल सारी, अलंकार तोरैं ।

कहूँ भौन-राते रचे धूमछाँहीं ;
ससी-सूर मानौ लसैं मेघ माहीं ।
जरैं सस्त्रसाला मिली गंधमाला ;
मलै अद्रि मानो लगी दाव-ज्वाला ।
चली भागि चौहूँ दिसा राजधानी ;
मिली ज्वालमाला फिरैं दुःखदानी ।
मनाईस-बानावली लाल लोलैं ;
सबै दैत्य-जायान के संग डोलैं ।

लंक लगाइ दई हनुमान बिमान बचे अति उच्चरुखी है ;
पावक कटैं डपटैं बहुधा मनि, रानी रटैं बहु पानी दुखी है ।
कंचन को पघिल्यो पुर, पयोनिधि मैं पसरेति सुखी है ;
गंग हजार मुखी गुनि 'केसो' गिरा मिली मानौ अपारमुखी है ॥

× × ×

कहूँ किन्नरी किन्नरी लैं बजावैं,
सुरी, आसुरी बाँसुरी गीत गावैं ।
कहूँ जच्छिनी पच्छिनी लै पढ़ावैं ;
नगीकन्यका पन्नगी को नचावैं ।
पियैं एक हाला, गुहैं एक माला ;
बनी एक बाला नचैं चित्रसाला ।
कहूँ कोकिला कोक की कारिका को—
पढ़ावैं सुआ लै सुकी सारिका को ।
फिरयो देखिकै राजसाला सभा को ;
रह्यो रीझि कै बाटिका की प्रभा को ।
फिरो बीर चौहूँ चितै सुद्ध गीता ;
बिलोकी भली सिंसुपा-मूल सीता ।

हिमांसु सूर-सो लगै सु बात बज्र-सी बहै ;
दिसा लगैं कृसानु ज्यों बिलेप अंग को दहै।
बिशेष कालराति-सी कराल राति मानिए ;
बियोग सीय को न, काल लोकहार जानिए।
पतिनी पति बिनु दीन अति, पति पतिनी बिनु मंद ;
चंद बिना ज्यों जामिनी, ज्यों बिन जामिनि चंद।
सबस्था सबै अंग सिंगार सोहैं ;
बिलोकें रमा, देव, देवी बिमोहैं।
पिता-अंक ज्यों कन्यका सुभ्र गीता ;
लसै अग्नि के अंक त्यों सुद्ध सीता।
महादेव के नेत्र की पुत्रिका-सी ;
कि संग्राम की भूमि मैं चंडिका-सी।
मनो रत्न-सिंहासनस्था सची है ;
किधौं रागिनी राग पूरे रची है।
गिरा पूर में है पयो-देवता-सी ;
किधौं कंज की मंजु सोभा प्रकासी।
किधौं पद्म ही में सिफाकंद सोहै ;
किधौं पद्म के कोस पद्मा बिमोहै।
कि सिंदूर-सैलाग्र मैं सिद्ध-कन्या ;
किधौं पद्मिनी सूर-संजुक्त धन्या।
सरोजासना है मनौ चारु बानी ;
जपा-पुष्प के बीच बैठी भवानी।
मनो ओषधी-बृंद मैं रोहिनी-सी ;
कि दिग्दाह मैं देखिए जोगिनी-सी।
धरा-पुत्र ज्यों स्वर्न माला प्रकासै ;
मनौ ज्योति-सी तच्छकाभोग भासै।

आसावरी मानिक कुंभ सोभै
असोक - लग्ना बन-देवता-सी ;
पालास - माला - कुसुमालिमध्ये,
बसंत-लक्ष्मी सुभ-लच्छना-सी ।
आरक्त - पत्रा सुभचित्र - पुत्री
मनौ बिराजै अति चारु बेखा ;
संपूर्न सिंदूर - प्रभास कैधौं,
गनेस - भाल - स्थल चंद्र-रेखा ।

महाकवि चंदबरदाई (ब्रह्मभट्ट)

इनका समय अटकल से सं० ११८३ से १२४९ तक बैठता है। महाराजा पृथ्वीराज के आप मंत्री और सखा थे। उनकी प्रशंसा में प्राय: २५०० पृष्ठों का चंद-कृत रासो-ग्रंथ प्रस्तुत है। महामहोपाध्याय रायबहादुर डॉक्टर गौरीशंकर-हीराचंद ओझा एक प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता हैं। आपने रासो में कई मोटी-मोटी ऐतिहासिक भूलें दिखलाकर इसे जाली ग्रंथ माना है, और चंद के तत्कालीन अस्तित्व को ही असिद्ध समझा है। एक तत्कालीन कश्मीरी कवि जयानक के लेखों पर आप बहुत आधार लेते हैं। उसी जयानक ने अपने श्लोक में एक तत्कालीन राजकुमार की कवि चंद से उपमा देने में राजकुमार की ही महत्ता समझी है। इस कारण जयानक के लेख से ही चंद कवि के उस काल होने का प्रमाण मिल जाता है। ओझाजी का कथन है कि रासो के कुछ भागों की भाषा शुद्ध प्राचीन भाषा है, और शेष की नवीन। ऐसी दशा में आपकी शंकाएँ स्वयं आपके कथनों से कट जाती हैं, और प्रश्न केवल इतना रह जाता है कि रासो का कितना भाग चंद-कृत है, और कितना नहीं?

चंद का मान पृथ्वीराज के यहाँ स्वजनों की भाँति होता था। उनके रासो में मृगया, युद्ध और शृंगार के मुख्य कथन हैं। भाषा आपकी ओज-पूर्ण है। आपने गोस्वामीजी की भाँति बिनतियाँ अच्छी-अच्छी कही हैं। उपमा, रूपकों आदि को खूब दर्शाया है। प्रभात एवं

सूर्य के कई बढ़िया वर्णन किए हैं, और शोभा को हर स्थान पर देखा है। इसके युद्ध-प्रधान ग्रंथ होने से रासो में लड़ाइयों के कई वर्णन अनेक प्रकार से हुए हैं। महर्षि वाल्मीकि के समान चंद भी वर्णन प्रायः पूर्ण और मनोहर करते थे। रासो का अंतिम भाग चंद्र-पुत्र जल्हन का बनाया हुआ कहा जाता है। कहते हैं कि रासो बिखर गया था, और मेवाड़-नरेश महाराणा अमरसिंह की आज्ञा से सं० १६३६ से १६४२ तक किसी समय एक या अनेक कवियों द्वारा सुसंपादित होकर पूर्ण हुआ। इस संपादन में चंद और जल्हन-कृत प्राचीन भाग सब-के-सब रक्खे गए, तथा कथाएँ पूर्ण होने को नवीन भाग भी जुड़े। समझा जाता है कि इसी संपादन में रासो में क्षेपक प्रचुरता से जुड़ गए। वर्तमान दशा में रासो एक परमपूज्य साहित्यिक ग्रंथ है, किंतु इतिहास के विचार से उसके वे ही कथन ग्राह्य हैं, जो अन्य प्रकार से भी समर्थित हों। साहित्य के नाते से वह इतना मान्य है कि उसी के कारण चंद कवि की स्थापना हिंदी-नवरत्न में है। कहा जा सकता है कि इस काव्य-संबंधी मान का कुछ अंश महाराणा अमरसिंह के कवि या कवियों का है, किंतु वे लोग अप्रकट हैं, और केवल चंद और जल्हन रासोकारों के रूप में सामने हैं। जो हो, रासो एक परमोत्कृष्ट साहित्यिक ग्रंथ अवश्य है।

उदाहरण—

पीत बसन आरुहिय रत्त तिलकावलि मंडिय ;
छुट्टिय चंचल चाल अलक गुंथिय सिर छंडिय।
सीसफूल मनिबंध पास नग सेत रत्त बिच ;
मनो कनक-साखा प्रचंड काली उप्पम रुच।
मनु सोम सहायक राहु होइ कोटि भान सोभा गही ;
अदभूत द्रव्य ससि अहि गिल्यो साष सुरंग भनावही।

× × ×

हरितकनककांति कापि चंपेव गोरी ;
रसितपदुमगंधा फुल्ल-राजीव-नेत्रा ।
उरजजलज-सोभा नाभि-कोसं सरोजं ;
चरन-कमलहस्ती लीलया राजहंसी ।

× × ×

मुक्ताहारबिहार सारसुबुधा अब्धा बुधा गोपनी ;
सेतं चीर सरीर नीर गहिरा गौरी गिरा जोगनी ।
बीनापानि सुबानि जानि दधिजा हंसारसा आसिनी ;
लंबोजा चिहुरार भार जघना बिद्मा घना नासिनी ।

× × ×

तन्मै स्याममुरंगबामनयनं मन्मत्थबल्ली कला ;
सुष्षं धामय तेज दीपक कला तारुन्य लच्छी प्रहा ।
रूपं रंजितमंजुमाल कलया बासंतपत्रावली ;
अब्वं लच्छन काम धीरज गुणे धन्यौ हुती दंपती ।

× × ×

बेस्या बंछित भूप रूप मनसा श्रृंगारहारावली ;
सोयं सूरति लच्छि अच्छि तगुनं बेली सुक्तामावली ।
का बर्तें कबि उक्ति जुक्ति मनयं त्रैलोक्यमं साधनं ;
सोयं बाल तिरत्तइइ बिद्रमं कामोद लोकेश्वरं ।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र

——:०:——

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का जन्म भादों सुदि ७, संवत् १६०७ वि० को, काशीपुरी में, हुआ।

इनके मूल-पुरुष राय बालकृष्ण थे, जिनके प्रपौत्र प्रसिद्ध सेठ अमीचंद और पौत्र बाबू हर्षचंद्र हुए। इन्हीं के पौत्र बाबू हरिश्चंद्र और दौहित्र बाबू राधाकृष्णदास थे। भारतेंदु के पिता बाबू गोपालचंद्र, उपनाम गिरधरदास, सत्कवि हो गए हैं।

भारतेंदु के दो पुत्र और विद्यावती नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई। इनके पुत्र शैशवावस्था ही में परलोकगामी हुए। कन्या और उसके पाँच पुत्र विद्यमान हैं।

इनकी माता का देहांत सं० १६१२ में और पिता का सं० १६१७ में हुआ। इनको पैतृक संपत्ति लाखों रुपयों की मिली थी, अतः केवल १० वर्ष की अवस्था में यह संपन्न घर के स्वच्छंद बालक हो गए।

इनमें स्वदेश-प्रेम की मात्रा विशेष थी। इनके काव्य और कार्यों से इसके उदाहरण मिल सकते हैं। उनमें से कुछ का वर्णन यहाँ किया जाता है—

(१) इन्होंने सं० १६२३ में चौखंभा-स्कूल स्थापित किया, जिसमें विना फ़ीस दिए बालक पढ़ते थे। असमर्थों को भोजन, वस्त्र, पुस्तक इत्यादि की सहायता भी दी जाती थी। इस स्कूल को

भारतेंदु ने १२ वर्ष तक अपने ही व्यय से चलाया। फिर म्युनिसिपैलिटी और सरकार ने भी कुछ-कुछ सहायता दी। धीरे धीरे यह हाईस्कूल हो गया, और अब तक हरिश्चंद्र-हाईस्कूल के नाम से इनकी कीर्ति बढ़ा रहा है।

(२) सं० १६२५ में आपने 'कविवचनसुधा' नाम की मासिक पत्रिका निकाली। यह दूसरे साल पाक्षिक हो गई, और इसमें गद्य-काव्य भी दिया जाने लगा। कुछ काल के उपरांत यह साप्ताहिक हुई, और इसमें काव्य, सामाजिक, राजनीतिक आदि सभी विषयों के लेख निकलने लगे। इसे भारतेंदुजी ने ७॥ साल तक बड़ी योग्यता और उत्तमता से चलाया।

(३) सं० १६३० में इन्होंने 'हरिश्चंद्र-मैगज़ीन' निकाली। यह आठ मास चलकर 'हरिश्चंद्र-चंद्रिका' के नाम से प्रकाशित होने लगी।

(४) सं० १६३० में इन्होंने स्त्रियों के उपकारार्थ, गवर्नमेंट के इच्छानुसार, 'बाल-बोधिनी' नाम की पत्रिका निकाली, परंतु वह चार ही वर्ष चली।

(५) सं० १६२७ में इनके द्वारा कवितावर्द्धिनी-सभा स्थापित हुई। इसमें प्रसिद्ध कवि सरदार, सेवक, बाबा दीनदयाल गिरि, नारायण कवि, द्विजकवि (मन्नालाल) आदि उपस्थित होते थे। भारतेंदु स्वयं पुस्तक-रचना करते थे, तथा पुरस्कार एवं प्रशंसा-पत्र देकर और-और लेखकों को भी इस काम के लिये उत्साहित करते थे। इसी सभा से पंडित अंबिकादत्त व्यास, द्विज बलदेव आदि को प्रशंसा-पत्र मिले।

इनकी जीवन-यात्रा की प्रायः सभी बातों का निचोड़ ज़िंदादिली है, और वह इनके सभी कार्यों से प्रकट होती है। यह शतरंज अच्छी खेलते, गाने-बजाने का शौक़ रखते और स्वयं भी कई बाजे बजाते थे।

कबूतर उड़ाने का व्यसन था। ताश भी खेलते थे। हुमम, चिड़िया, ईंट और पान के स्थान पर इन्होंने शंख, चक्र, गदा और पद्म रक्खे। इसी प्रकार बीबी, बादशाह की जगह देवी, देवतों के रूप थे। बुढ़वा-मंगल के मेले में आप बड़ा उत्सव करते थे। उदारता इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि कवियों, पंडितों आदि को हज़ारों रुपए दान कर देते थे। जिसने इनकी कोई चीज़ पसंद की, वह तुरंत उसकी नज़र हुई। दीप मालिका को इतर के चिराग़ जलाते थे, और देह में लगाने के वास्ते तो सदैव तेल के स्थान पर इतर ही बर्ता जाता था। सारांश यह की रुपए को पानी की भाँति बहाते थे। यह दशा सुनकर महाराज काशी-नरेश ने एक दिन इनसे कहा, "बबुआ, घर को देखकर काम करो।" इस पर इन्होंने तुरंत उत्तर दिया, "हुज़ूर! यह धन मेरे बहुत-से बुज़ुर्गों को खा गया है; अब मैं इसको खा डालूँगा।" सं० १९२७ में यह अपने छोटे भाई से अलग हुए थे, और थोड़े ही वर्षों में इन्होंने अपने भाग की समस्त पैतृक संपत्ति उड़ा डाली। आपके जीवन एवं साहित्य का सबसे बड़ा प्रभाव देश और हिंदी-साहित्य में जातीयता का वर्द्धन था। आप ही ने हिंदी में धार्मिक के स्थान पर देशभव जातीयता का भारी प्रचार किया।

इनमें हास्य की मात्रा इतनी थी कि होली में लकड़ी का बड़ा मोटा कुंदा कमर में बाँधकर कबीर गाते गलियों में निकलते थे। पहली एप्रिल को अँगरेज़ी सभ्यता के अनुसार मनुष्य दिल्लगी के लिये कोई भी झूठ बोल सकता है। भारतेंदु उस दिन कुछ-न-कुछ अवश्य करते थे। एक बार आपने नोटिस दी कि महाराज विजयानगरम् की कोठी में एक योरप के विद्वान् सूर्य और चंद्रमा को पृथ्वी पर उतारेंगे। हज़ारों मनुष्य वहाँ एकत्र हुए, परंतु कुछ न देखकर लज्जित हो लौट गए। एक बार प्रकाशित कर दिया कि एक बड़े प्रसिद्ध गायक हरिश्चंद्र-स्कूल में मुफ़्त गाना सुनाएँगे। जब हज़ारों आदमी

एकत्र हुए, तब परदा खुला, और एक मनुष्य विदूषक के वस्त्र पहने, उलटा तानपूरा लिए, घोर खर-स्वर करने लगा। यह देख लोग हँसते हुए शरमाकर घर लौट गए। एक बार इन्होंने एक मित्र से नोटिस दिला दी कि एक मेम रामनगर के पास खड़ाऊँ पर सवार होकर गंगाजी को पार करेगी, और खड़ाऊँ न डूबेगी। हज़ारों लोग एकत्र हुए, परंतु न कहीं मेम, न खड़ाऊँ। पीछे सब समझे कि यह भी मज़ाक़ था। भारतेंदु ने सुंदर कपड़े, खिलौने, फ़ोटो एवं अपूर्व पदार्थों का संग्रह सदैव किया। इनको तसवीरों का संग्रह बहुत ही प्रिय था, और इन्होंने बड़ा परिश्रम करके बहुत-से बादशाहों एवं अन्य महाशयों की तसवीरें एकत्र की थीं।

इन महाकवि ने केवल ३५ वर्ष इस संसार को सुशोभित किया। और प्राय: १८ वर्ष की अवस्था से मुख्यतया काव्य-रचना आरंभ की। पहले यह केवल गद्य लिखते थे, पीछे से पद्य भी लिखने लगे। इस १७ वर्ष के अल्प काल में इन्होंने १७५ ग्रंथ बनाए। ७५ ग्रंथ इनके द्वारा संपादित, संगृहीत या उत्साह देकर बनवाए हुए और भी वर्तमान हैं। यों तो इन्होंने पाँच वर्ष की आयु में ही एक दोहा बनाया था, परंतु १६ या १७ वर्ष की अवस्था से काव्य-रचना आरंभ कर दी। समस्त रचनाओं के प्रकाशित करने का स्वत्व बाबू रामदीनसिंह, अध्यक्ष खड्गविलास-प्रेस, को दे दिया था, जिन्होंने इनके मुख्य-मुख्य ग्रंथों को 'हरिश्चंद्रकला' के नाम से, छ भागों में, प्रकाशित किया।

प्रथम भाग (नाटकावली)

(१) 'नाटक'-नामक ४६ पृष्ठों के लेख में इन्होंने नाटक के लक्षण, नाटक बनाने की रीति तथा नाटक का इतिहास लिखा। इनके अतिरिक्त और बहुत-सी जानने योग्य बातें नाटक के विषय में वर्णित हैं, जो पढ़ने योग्य हैं। इसकी रचना संवत् १९४० में हुई।

(२) 'सत्यहरिश्चंद्र' नाटक संवत् १९३२ में बना। यह आर्य-क्षेमेश्वर-कृत 'चंडकौशिक' के आशय पर बनाया गया, परंतु उसका अनुवाद नहीं है। यह एक स्वतंत्र ग्रंथ है, और भारतेंदु की उत्कृष्ट रचनाओं में इसकी गणना है। यह कथा ऐतिहासिक नहीं है। इसमें महाराज हरिश्चंद्र की सत्य-परीक्षा का वर्णन है। राजों के यहाँ पूर्व काल में जिस प्रकार ऋषियों का आदर होता था, वह इसमें पूर्ण रूप से दिखलाया गया है। महारानी शैव्या के स्वप्न में आनेवाली विपत्ति का दिग्दर्शन करा दिया गया है। राजा हरिश्चंद्र की सत्य-प्रियता इतनी बढ़ी हुई थी कि स्वप्न में भी पृथ्वी का दान देने पर दानपात्र के न मिलने से वह विकल थे, और सोचते थे कि इसका क्या प्रबंध करूँ? विश्वामित्र और हरिश्चंद्र की बातचीत से यह साफ़ प्रकट होता है कि विश्वामित्र को पृथ्वी का लेना अभीष्ट नहीं था; वह किसी उपाय से राजा को सत्य-भ्रष्ट-मात्र करना चाहते थे। ऐसे समय हरिश्चंद्र के मुख से यह वाक्य कहलाना बहुत ही योग्य और स्वाभाविक था—

"चंद टरै, सूरज टरै, टरै जगत-व्यवहार;
पै दृढ़ श्रीहरिश्चंद को टरै न सत्य-बिचार।
बेंचि देह-दारा-सुवन होय दास हूँ मंद;
रखिहै निज बच सत्य करि अभिमानी हरिचंद।"

आपकी रचना छ भागों में प्रकाशित की गई है। पहले में नाटक हैं, दूसरे में छोटे-छोटे इतिहास, तीसरे में राजभक्ति-सूचक साहित्य, चौथे में भक्तसर्वस्व, पाँचवें में स्फुट रचनाएँ तथा छठे में प्रायः औरों का साहित्य। नाटक आपके १९ हैं, जिनमें 'सत्यहरिश्चंद्र', 'चंद्रावली', 'भारत-दुर्दशा', 'नीलदेवी' और 'प्रेमयोगिनी' प्रधान हैं। इनमें स्थायी साहित्य समझ पड़ता है। इनकी रचना में प्रेम का प्राधान्य है। हिंदूपन और जातीयता का आपको सदैव ध्यान रहता था। अपने समय के आप एक प्रतिनिधि कवि थे। उस काल की सभी महती

घटनाओं पर इनकी रचनाएँ हैं। देश-प्रेम के साथ आप हास्य की भी अच्छी मात्रा रखते थे। 'नीलदेवी', 'भारत-दुर्दशा' और 'अंधेर-नगरी' में हास्य और देश-प्रेम का अच्छा मिश्रण है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' केवल हास्य पर है, यद्यपि इसका साहित्य कुछ शिथिल है। भारतेंदु में ज़ोर बहुत है, और विविध विषयों का समुचित विवरण आप अच्छा दे सकते हैं। सौंदर्य का निरीक्षण आपने खूब किया। रूपक भी अनमोल लाए हैं। अपने समय में उपन्यासों का अभाव-सा देखकर दो उपन्यास भी लिखने लगे थे, किंतु वे अपूर्ण रह गए। राजनीतिक और सामाजिक सुधारों पर भी बहुत कुछ लिखा है। पद्य में व्रजभाषा का प्रयोग करते थे, और गद्य में सरल संस्कृत और उर्दू-शब्द-गुंफित खड़ी बोली का।

इनके काव्य में जातीयता के पीछे सबसे अधिक और बढ़िया वर्णन प्रेम का है। इन्होंने ऐसा अनोखा हृदय पाया था कि उसमें प्रेम की मात्रा अथाह थी। अतः इनके प्रायः सब लेखों में उसी की विशेषता रहती थी। इसके उदाहरण 'चंद्रावली-नाटिका' और पंचम भाग के प्रायः सभी ग्रंथ कहे जा सकते हैं। इनमें ईश्वरीय तथा सांसारिक, दोनो प्रकार का प्रेम विशेष रूप से था, और इन दोनो के वर्णन इनके काव्य में हर जगह मौजूद हैं।

इनको हिंदूपन और जातीयता का सदैव बड़ा ध्यान रहता था। इतना अधिक स्वदेशाभिमान शायद ही किसी में उस समय हो। स्वदेश-प्रेम से इन कविवर का हृदय परिपूर्ण था। भारतेंदु के बराबर हिंदोस्तान के दोषों पर आँसू बहानेवाला एवं उसके महत्त्व पर अभिमान करनेवाला कोई भी अन्य कवि हिंदी के साहित्य में न होगा। हिंदोस्तान के विषय में इन्होंने बहुत ही प्रेम-गद्गद होकर काव्य किया है। यह पुरुष-रत्न हिंदी, हिंदू और हिंदोस्तान के वास्ते

कल्पवृक्ष हो गया है। हास्य के ग्रंथों तक में इन्होंने देश-हित का चिंतन नहीं छोड़ा। 'नीलदेवी' और 'भारत-दुर्दशा'-ग्रंथ इस विषय के प्रबल प्रमाण हैं।

इनकी कविता में हास्य की मात्रा भी ख़ूब रहती थी। इन्होंने उसका प्रयोग ऐसी रीति से किया है कि वह कविता बहुत ही उत्कृष्ट जान पड़ती है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'अंधेर-नगरी' तो मानो इसके रूप हैं। और-और स्थानों पर भी इसकी मात्रा बहुत पाई जाती है।

इनमें विविध विषयों का यथावत् वर्णन करने की शक्ति बहुत प्रबल थी। इन्होंने प्राकृतिक तथा अन्य सभी प्रकार के वर्णन बहुत ही प्रकृष्ट किए हैं। सौंदर्य के तो यह उपासक ही थे, अतः प्रत्येक विषय में सुंदरता पर इनकी निगाह पहुँच जाती थी। इसके उदाहरण सभी स्थानों पर मिलते हैं। फिर भी गंगा, यमुना, काशी, शुकदेव, नारद, श्मशान, हरिश्चंद्र का बिकना आदि के वर्णन और सभा के व्याख्यान, झपटिया, दलाल इत्यादि की बातचीत विशेष रूप से द्रष्टव्य है। जैसे जी लगाकर इन्होंने रचना की, वैसे ही इन्हीं के सामने प्रायः इनके सभी उत्कृष्ट नाटकों के अभिनय भी हो गए।

इन्होंने अपनी कविता में रूपकों का समावेश भी विशेष रूप से किया। उदाहरण-स्वरूप चंद्रावली-नाटिका में योगिनी और वियोगिनी का रूपक देखिए।

भारतेंदु ने संस्कृत और उर्दू दोनो के प्रचलित शब्दों का अपनी खड़ी बोली में आदर किया। आपकी भाषा लोक-पक्ष को लिए हुए बहुत ही श्रेष्ठ थी, किंतु पीछे के बहुतेरे लेखक प्रचुरता से सांस्कृत शब्द सगुंफन के प्रेमी हैं। आपकी भाषा गद्य और पद्य दोनो में प्रौढ़, प्रभाव-पूर्ण, सभी प्रकार के भाव-प्रकाशन में सशक्त, लचीली और सुव्यवस्थित है। शब्दचयन लोक-पक्ष को लिए हुए बहुत ही मनोहर

होता था। भाषा माधुर्य, प्रसाद, अर्थ-व्यक्ति, कांति, सुकुमारता आदि सद्गुणों को धारण किए हुए है। छंदों में धारावाहिता प्रस्तुत है, और कथनों में मूर्तिमत्ता के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। नाटकों में छाया, अनुवाद और मौलिकता, सभी कुछ प्रस्तुत हैं। अनुपम हाव-विधान, चेष्टा-चित्रण, संचारियों की व्यंजना, लोकोक्तियों का प्रचुर समावेश, विचार-स्वातंत्र्य, वर्णन-विदग्धता, चमत्कार-कौशल, दक्षता-पूर्वक प्रचुर हास्य-विनोद, ऊहा की प्रगल्भता, स्वभावोक्ति की सक्षमता, वियोग की कसक, प्रेम-पिपासा, कलेजा निकालकर रख देनेवाले भाव, ज़िंदादिली, चपलता, रस-प्राचुर्य, ख़ासा अलंकारारोपण, विविध मानुषीय स्थितियों के विश्लेषण, प्रबंध-पटुता, भावावेश आदि भारतेंदु की रचना में बहुत आधिक्य से प्राप्त हैं।

उस काल राजा लक्ष्मणसिंह की संस्कृत-गर्भित एवं राजा शिवप्रसाद की उर्दू की ओर झुकी हुई प्रणालियों में होड़ थी। पहली शैली स्वामी दयानंद सरस्वती से बल पा चुकी थी। भारतेंदु ने दोनो को मिलाकर चलती-फिरती, हँसती-बोलती, गठी हुई, लचीली, चमकदार भाषा की ऐसी उत्कृष्ट शैली निकाली, जिसे अन्य लेखकों ने दोनो हाथों से सत्कारा। आपने चलते हुए उर्दू-शब्दों को नहीं त्यागा, तथा गूढ़ सांस्कृत शब्दों की ओर भी प्रेम न दिखलाया। आपकी भाषा गंभीर, सव्यंग्य, हास्य-पूर्ण और साधारण, साहित्यिक आदि सभी प्रकार के भाव व्यक्त करने में सक्षम थी। विद्यानुरागिता, श्यामताई, अधीरजमना, कृपा किया, नाना देश आदि का प्रयोग करके आपने व्याकरण के अनुचित आधिपत्य से हिंदी की स्वच्छंदता दिखलाई। उस काल में प्रचलित चाल छोड़कर आपने हिंदी-साहित्य-प्रणाली को वर्तमान प्रगति की ओर झुकाया। यह भी आपकी बहुत बड़ी महत्ता है।

उदाहरण—

चंद्रावली

"अहा ! संसार के जीवों की कैसी विलक्षण रुचि है ? कोई नेम-धर्म में चूर है, कोई ज्ञान के ध्यान में मस्त है, कोई मत-मतांतर के झगड़ों में मतवाला हो रहा है। हरएक दूसरे को दोष देता है, अपने को अच्छा समझता है। कोई संसार ही को सर्वस्व मानकर परमार्थ से चिढ़ता है। कोई परामर्थ ही को परम पुरुषार्थ मानकर घर-बार तृण-सा छोड़ देता है। अपने-अपने रंग में सब रँगे हैं। जिसने जो सिद्धांत कर लिया है, वही उसके जी में गड़ रहा है, और उसी के खंडन-मंडन में वह जन्म बिताता है। पर वह जो परम प्रेम अमृतमय एकांत भक्ति है, जिसके उदय होते ही अनेक प्रकार के आग्रह-स्वरूप ज्ञान-विज्ञानादिक अंधकार नाश हो जाते हैं, और जिसके चित्त में आते ही संसार का निगड़ आप-से-आप खुल जाता है, किसी को नहीं मिली। मिले कहाँ से ? सब उसके अधिकारी भी तो नहीं हैं। और भी जो लोग धार्मिक कहाते हैं, उनका चित्त स्वमतास्थापन और परमत-निराकरण-रूप वाद-विवाद से, और जो विषयी हैं, उनका अनेक प्रकार की इच्छा-रूपी तृष्णा से, उतर तो पाता ही नहीं कि इधर झुकें। अहा ! इस मदिरा को शिवजी ने पान किया है, और कोई क्या पिएगा ? जिसके प्रभाव से अर्द्धांग में बैठी पार्वती भी उनको विकार नहीं कर सकतीं। धन्य है, धन्य ! और दूसरा ऐसा कौन है ?"

नीलदेवी

"सोओ, सुख-निँदिया प्यारे ललना।
नैनन के तारे दुलारे मेरे बारे,
सोओ सुख-निँदिया प्यारे ललन।

भई आधी रात, बन सनसनात,
पसु-पंछी कोउ आवत न जात,
जग प्रकृति भई मनु थिर लखात,
पातहु नहिं पावत तरुन हलन।
झलमलत दीप सिर धुनत आय,
मनु प्रिय पतंग हित करत 'हाय,'
सतरात बैन आलस जनाय,
सनसन्न लगि सीरी पवन चलन।
सोए निसि के सब नींद घोर,
जागत कामी, चिंतित चकोर,
बिरहिन, बिरही, पाहरू, चोर,
इन कहँ छिन रैनिहु हाय कल न।"

प्यारे!

क्या लिखूँ! तुम बड़े दुष्ट हो, चलो भला सब अपनी वीरता हमी पर दिखानी थी। हाँ! भला मैंने तो लोक, वेद, अपना, बिराना सब छोड़कर तुम्हें पाया, तुमने हमें छोड़ के क्या पाया? और जो धर्म-उपदेश करो, तो धर्म से फल होता है, फल से धर्म नहीं होता, निर्लज्ज, लाज भी नहीं आती। मुँह ढको, फिर भी बोलने बिना डूबे जाते हो। चलो वाह! अच्छी प्रीति निबाही। जो हो, तुम जानते ही हो, हाय कभी न करूँगी। यों ही सही, अंत मरना है। मैंने अपनी ओर से ख़बर दे दी। अब मेरा दोष नहीं, बस।

केवल तुम्हारी

❀ ❀ ❀

परत चंद प्रतिबिंब कहूँ जल मधि चमकायो;
लोल लहरि लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो।

मनु हरि-दरसन हेतु चंद जल बसत सुहायो ;
कै तरंग-कर मुकुर लिए सोभित छबि-छायो ।
कै रास-रमन मैं हरि-मुकुट-आभा जल दिखरात है ;
कै जल-उर हरि-मूरति बसति ता प्रतिबिंब लखात है।
कबहुँ होत सत चंद, कबहुँ प्रगटत दुरि भाजत ;
पवन-गवन-बस बिंब रूप जल मैं बहु साजत ।
मनु ससि भरि अनुराग जमुन-जल लोटत डोलै ;
कै तरंग की डोर हिंडोरन करति कलोलै ।
कै बाल-गुड़ी नभ मैं उड़ी सोहत इत-उत धावती ;
कै अवगाहत डोलत कोऊ ब्रजरमनी जल आवती ।
मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटि जात जमुन-जल ;
कै तारागन ठगन लुकत प्रगटत ससि अविकल ।
कै कालिंदी नीर-तरंग जिते उपजावत ;
तितने ही धरि रूप मिलन हित तासों धावत ।
कै बहुत रजत-चकई चलत, कै फुहार-जल-उच्छरत ;
कै निसिपति मल्ल अनेक विधि उठि बैठत कसरत करत ।
कूजत कहुँ कलहंस, कहूँ मज्जत पारावत ;
कहूँ कारंडव उड़त, कहूँ जल-कुक्कुट धावत ।
चक्रवाक कहुँ बसत, कहूँ बक ध्यान लगावत ;
सुक, पिक जल पियत, कहूँ भ्रमरावलि गावत ।
कहुँ तट पर नाचत मोर बहु, रोर बिबिध पच्छी करत ;
जलपान, न्हान करि सुख-भरे तट-सोभा सब जिय धरत ।

❀ ❀ ❀

दुनिया में हाथ-पैर हिलाना नहीं अच्छा ;
मर जाना पै उठके कहीं जाना नहीं अच्छा ।

बिस्तर पै मिस्ल लोथ पड़े रहना हमेशा ;
बंदर कि तरह धूम मचाना नहीं अच्छा।
सिर भारी चीज़ है, इसे तकलीफ़ हो, तो हो ;
पर जीभ बिचारी को सताना नहीं अच्छा।
फ़ाक़ों से मरिए, पर न कोई काम कीजिए ;
दुनिया नहीं अच्छी है, ज़माना नहीं अच्छा।
सिज्दे से गर बिहिश्त मिले, दूर कीजिए ;
दोज़ख़ हि सही, सर का झुकाना नहीं अच्छा।
मिल जाय हिंद ख़ाक में, हम काहिलों को क्या ;
ऐ मीरे-फ़र्श रंज उठाना नहीं अच्छा।